अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका – जुलाई २०१८

सारा जीवन ही योग है

(भाग-२)

विषय-सूची

सारा जीवन ही योग है (भाग-२)

प्रार्थना/सम्पादकीय		३
पूर्ण ज्ञान का योग	श्रीअरविन्द	५
भागवत प्रेम का योग	श्रीअरविन्द	११
पुकार और योग्यता	श्रीअरविन्द	१६
श्रीमाँ के वचन		१९
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		३६
हमारी सत्ता की वीणा एकस्वर में बज उठे	नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	४०
प्राणों के प्राण (कविता)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	४२
एक साधिका के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' खण्ड १६ से	४३
दिव्य शरीर में दिव्य जीवन	नवजात जी	४६
चन्दरी बुआ	रामेश्वरजी टाँटिया	५१
मंगल प्रभात (कविता)	'अखण्ड ज्योति' से साभार	५५
आमीन!!!	वन्दना	५६

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष–१८०रु.; तीन वर्ष–५२०रु.; पाँच वर्ष–८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

प्रार्थना

२३ जुलाई १९१३

हे प्रभो, हे कल्पनातीत 'भव्यता', वर दे कि तेरा 'सौन्दर्य' सारी पृथ्वी पर उमड़ पड़े, तेरा 'प्रेम' सभी हृदयों में सुलग उठे और सब पर तेरी 'शान्ति' का राज्य छा जाये।

मेरे हृदय से गभीर और गहरा, मुस्कुराता हुआ और सूक्ष्म मन्त्र उठता है। मैं नहीं जानती कि यह मन्त्र मेरी ओर से तेरी ओर जा रहा है या तेरी ओर से मेरी ओर आ रहा है या तू, मैं और यह सारा विश्व ही यह अद्‌भुत मन्त्र है जिसके बारे में मैं अभी-अभी सचेतन हुई हूँ।... निश्चय ही अब न कोई तू है न मैं हूँ और न ही कोई पृथक् विश्व है; केवल एक महान् सामञ्जस्य है, उदात्त और अनन्त, जो सब कुछ है और जिसके बारे में एक दिन हर चीज़ सचेतन हो जायेगी। यह असीम 'प्रेम' का सामञ्जस्य है, ऐसे 'प्रेम' का जो समस्त दुःख-दैन्य और अन्धकार पर विजय पाता है।

'प्रेम' के इस विधान से, तेरे विधान से, मैं अधिकाधिक समग्र रूप से जीना चाहती हूँ; अशेष भाव से अपने-आपको उसके अर्पण करती हूँ।

और मेरी सारी सत्ता एक अनिर्वचनीय 'शान्ति' में उल्लसित होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. २०-२१

सम्पादकीय : जैसा कि हमने जून के सम्पादकीय में ज़िक्र किया था, 'योग-समन्वय' पुस्तक के कुछ अंशों को हम जुलाई में भी दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त, 'अग्निशिखा' के भाग में योग के ही बारे में श्रीमाँ-श्रीअरविन्द के वचन हैं। क्योंकि अन्ततः, 'सारा जीवन ही योग है।'

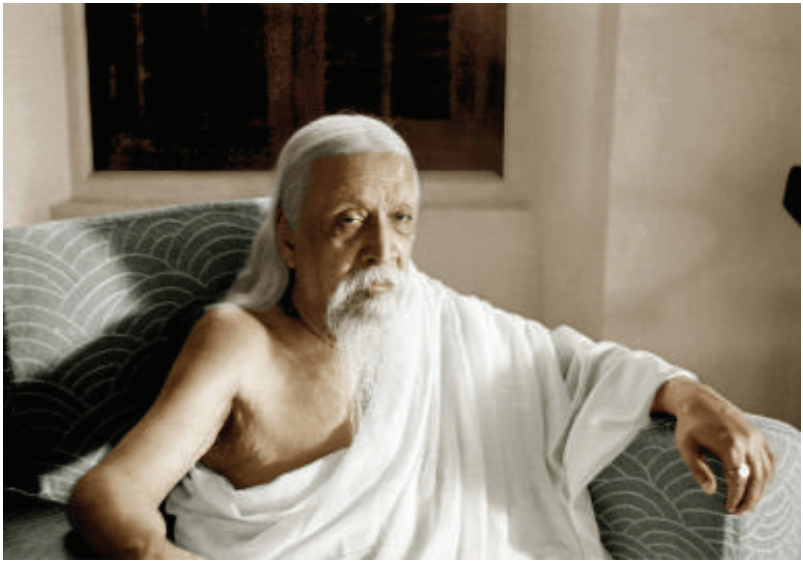

श्रीअरविन्द

पूर्णयोग की प्रक्रिया में तीन अवस्थाएँ होती हैं, निश्चय ही ये तीव्र रूप में भिन्न या पृथक्-पृथक् तो नहीं हैं, पर किसी अंश में क्रमिक अवश्य हैं।

सबसे पहले हमें अपने अहंभाव से ऊपर उठने और भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना होगा जिससे कि हम, कम-से-कम, योग में दीक्षित होकर उसके अधिकारी बन सकें। उसके बाद यह आवश्यक है कि जो परब्रह्म हमसे अतीत है और जिसके साथ हमने अन्तर्मिलन प्राप्त कर लिया है उसे हम अपने अन्दर ग्रहण करें, ताकि वह हमारी सम्पूर्ण सचेतन सत्ता का रूपान्तर कर सके। अन्त में, हमें अपनी रूपान्तरित मानवता का संसार में भगवान् के केन्द्र के रूप में उपयोग करना होगा।
CWSA खण्ड २३, पृ. ५८

पूर्ण ज्ञान का योग

एकाग्रता की शक्ति

किसी भी वस्तु पर अपने-आपको एकाग्र करके हम उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसे अपने गुप्त रहस्यों को उजागर करने के लिए विवश कर सकते हैं; इस शक्ति का प्रयोग हमें वस्तुओं को नहीं, बल्कि एकमात्र 'निरपेक्ष सद्वस्तु' को जानने के लिए करना चाहिये। और फिर, एकाग्रता के द्वारा सम्पूर्ण संकल्प-शक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति के लिए जुटाया जा सकता है जो अभी तक हमारे अधिकार में नहीं आयी है, अभी तक हमारी पहुँच के परे है; यदि यह शक्ति पर्याप्त सधी हुई हो, पर्याप्त एकनिष्ठ और पर्याप्त निष्ठापूर्ण हो, अपने बारे में निश्चयवान्, केवल अपने ही प्रति दृढ़निष्ठ तथा पूर्ण श्रद्धामय हो तो इसे हम चाहे किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयोग में ला सकते हैं; परन्तु इसका प्रयोग हमें उन अनेक चीज़ों को पाने के लिए नहीं करना चाहिये जिन्हें संसार हमारे सामने प्रस्तुत करता है, बल्कि आध्यात्मिक रूप में उस एक वस्तु को अधिकृत करने के लिए करना चाहिये जो खोजने-योग्य है और साथ ही जो एकमात्र जानने-योग्य विषय है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उसकी किसी एक ही अवस्था पर एकाग्र करके हम जो कुछ बनना चाहें बन सकते हैं; उदाहरणार्थ, भले हम पहले दुर्बलताओं और भयों का पुञ्ज क्यों न रहे हों, पर अब हम उसके स्थान पर बल और साहस का पुञ्ज बन सकते हैं, अथवा हम पूर्ण रूप से एक महान् शुद्धता, पवित्रता एवं शान्ति की मूर्ति या फिर 'प्रेम' की एक वैश्व आत्मा बन सकते हैं; परन्तु यह कहा जा सकता है कि इस शक्ति का प्रयोग हमें ये चीज़ें बनने के लिए भी नहीं करना चाहिये, भले ये, जो कुछ हम आज हैं उसकी तुलना में ऊँची ही क्यों न हों, बल्कि हमें इसका प्रयोग वह शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता बनने के लिए करना चाहिये जो सब वस्तुओं से ऊपर है तथा समस्त क्रियाओं और गुणों से मुक्त है। CWSA खण्ड २३, पृ. ३१८

शुद्धि, मुक्ति, सिद्धि, भुक्ति—ये हैं योग के घटक तत्त्व।

—श्रीअरविन्द

त्याग

हमारा त्याग, स्पष्ट ही, एक आन्तरिक त्याग होना चाहिये; विशेषतया और सबसे बढ़ कर, वह इन तीन चीज़ों का त्याग होना चाहिये—इन्द्रियों और हृदय में से आसक्ति तथा कामना-लालसा का, विचार और कर्म में से अहंकारपूर्ण स्वेच्छा का और चेतना के केन्द्र में से अहंभाव का। क्योंकि ये ही चीज़ें वे तीन गाँठें हैं जिनसे हम अपनी निम्नतर प्रकृति के साथ बँधे हुए हैं और अगर हम इनका पूर्ण रूप से त्याग कर सकें तो और कोई ऐसी चीज़ नहीं जो हमें बाँध सके। इसलिए आसक्ति और कामना को पूरी तरह से निकाल फेंकना होगा; इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिसके प्रति हमें आसक्त होना चाहिये, न धन-दौलत, न ग़रीबी, न हर्ष, न शोक, न जीवन, न मरण, न महानता, न क्षुद्रता, न पाप, न पुण्य, न मित्र, न स्त्री, न सन्तान, न स्वदेश, न अपना कार्य और ध्येय, न स्वर्ग, न भूतल और न वह सब जो इनके अन्दर या इनसे परे है।

इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है जिससे हमें प्रेम करना चाहिये, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें हमें आनन्द लेना चाहिये; क्योंकि आसक्ति का मतलब है, प्रेम में रहने वाला अहंकार, न कि स्वयं प्रेम; कामना का अर्थ है, सुख और सन्तोष की भूख में निहित सीमितता और सुरक्षितता, न कि वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द की खोज। पर सार्वभौम प्रेम तो हमारे अन्दर अवश्य होना चाहिये, ऐसा प्रेम जो शान्त एवं स्थिर हो और फिर भी उत्कट-से-उत्कट अनुराग के क्षणिक आवेश के परे नित्य रूप से प्रगाढ़ रहने वाला हो; इस विश्व की वस्तुओं में आनन्द हमें अवश्य लेना चाहिये, पर ऐसा आनन्द जो भगवान् में मिलने वाले आनन्द पर आधारित होता है और जो वस्तुओं के बाह्य रूपों के साथ नहीं चिपटता, बल्कि उनके अन्दर छुपे हुए तत्त्व को मज़बूती से पकड़े रखता है तथा जगत् के पाशों में फँसे बिना[१] इसका आलिंगन करता है।

अगर हम दिव्य कर्मों के मार्ग में पूर्ण बनना चाहें तो हमें अपने विचार और कर्म में रहने वाली अहंकारपूर्ण स्वेच्छा को पूरी तरह से त्याग देना होगा; उसी प्रकार अगर हमें दिव्य ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करनी हो तब भी

[१] निर्लिप्त। वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द निष्काम और निर्लिप्त है, कामना से मुक्त, अतएव अनासक्त है।

हमें इसका पूरी तरह से त्याग करना होगा। इस स्वेच्छा का मतलब है, मन का अहंभाव जो अपनी पसन्दगियों तथा आदतों के प्रति और विचार, दृष्टिकोण एवं संकल्प की अपनी अतीत या वर्तमान रचनाओं के प्रति आसक्त हो जाता है, क्योंकि यह उन्हें 'अपना-आप' या अपनी समझता है, उनके चारों ओर "मैं-पन" और "मेरे-पन" के सूक्ष्म तन्तुओं का जाल बुन डालता है और जाले में मकड़ी की तरह उनमें निवास करता है। जैसे मकड़ी अपने जाले पर आक्रमण बिलकुल पसन्द नहीं करती, वैसे ही यह भी अपने साथ छेड़छाड़ बिलकुल पसन्द नहीं करता और यदि इसे नये दृष्टि -बिन्दुओं एवं नयी धारणाओं के क्षेत्र में ले जाया जाये तो वहाँ यह अपने-आपको परदेसी और दुःखी अनुभव करता है जैसे मकड़ी को अपने जाले के सिवाय किसी और जाले में सब कुछ विदेशी और विजातीय लगता है। इस आसक्ति को अपने मन से पूरी तरह से निकाल फेंकना होगा। इतना ही नहीं कि हमें जगत् और जीवन के प्रति उस साधारण मनोवृत्ति का त्याग करना होगा जिसे अजागरित मन अपना एक स्वाभाविक अंग समझता हुआ उसके साथ चिपटा रहता है; बल्कि हमें अपनी गढ़ी हुई किसी मानसिक धारणा में या किसी बौद्धिक विचार-पद्धति में अथवा धार्मिक सिद्धान्तों या तार्किक परिणामों की किसी क्रमशृंखला में भी नहीं बँधे रहना चाहिये; हमें केवल मन और इन्द्रियों के पाश को ही नहीं काटना है, बल्कि विचारक, धर्मगुरु और सम्प्रदाय-प्रवर्तक के पाश से भी, अर्थात् 'शब्द' के जाल तथा 'विचार' के बन्धन से भी मुक्त होकर इनसे बहुत परे चले जाना है। ये सब बन्धन आत्मा को बाह्य रूपों के घेरे में बन्द करने के लिए हमारे अन्दर तैयार बैठे रहते हैं; लेकिन हमें सदा इन्हें पार करते जाना होगा, सदा ही महत्तर के लिए लघुतर को तथा अनन्त के लिए सान्त को त्यागते जाना होगा; हमें एक प्रकाश से दूसरे प्रकाश की ओर, एक अनुभव से दूसरे अनुभव तथा आत्मा की एक अवस्था से उसकी दूसरी अवस्था की ओर बढ़ने के लिए तैयार रहना होगा जिससे कि हम भगवान् की चरम परात्परता तथा चरम विश्वमयता तक पहुँच सकें। इसी प्रकार, जिन सत्यों को हम अत्यन्त सुरक्षित मानते हुए उन पर विश्वास करते हैं उनसे भी हमें आसक्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के रूप और अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं जो किसी भी रूप या अभिव्यक्ति तक अपने-

आपको सीमित रखने से इन्कार करता है; हमें, सदा ही, ऊपर से आने वाले उस उच्चतर 'शब्द' की ओर खुले रहना चाहिये जो अपने-आपको अपने अभिप्राय तक ही सीमित नहीं रखता; साथ ही हमें उस 'विचार' के प्रकाश की ओर भी खुले रहना चाहिये जो अपने अन्दर अपने से उलटे विचारों को भी धारण किये रहता है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३२९-३३१

अन्दर की आँख ही सब कुछ है

अगर इस एकमेव 'आत्मा' की उपलब्धि, चरितार्थता और सेवा हमसे एक ऐसे कार्य की माँग करती हैं जो दूसरों को—अहंकारपूर्ण अर्थ में—अपनी सेवा या अपनी ही ख्याति प्रतीत होता है या फिर अहंपूर्ण भोग एवं अहं-तुष्टि प्रतीत होता है फिर भी वह कार्य हमें करना ही है, हमें अपने अन्दर के मार्गदर्शक के निर्देशानुसार चलना है न कि लोगों की सम्मतियों के अनुसार। परिस्थिति का प्रभाव प्रायः बहुत सूक्ष्म रूप में कार्य करता है; हम प्रायः अचेतन रूप में उस वेश को अधिक पसन्द करते हैं तथा उसी को पहन भी लेते हैं जो बाहर से देखने वाली आँख को सर्वोत्तम दीख पड़ता है और इस प्रकार हम अपने अन्दर की आँख पर परदा पड़ जाने देते हैं; हम दरिद्रता के व्रत का या सेवा का बाना पहनने या फिर उदासीनता, त्याग एवं निष्कलंक साधुता के बाह्य प्रमाणों का जामा पहनने को प्रेरित होते हैं, क्योंकि परम्परा एवं लोकमत हमसे इसी चीज़ की माँग करते हैं और साथ ही इसी प्रकार हम अपनी परिस्थिति पर सर्वोत्तम प्रभाव डाल सकते हैं। परन्तु यह सब मिथ्याभिमान और भ्रममात्र है। इन चीज़ों का वेश भी हमें धारण करना पड़ सकता है, क्योंकि वह हमारी सेवा की वर्दी हो सकता है; पर वह ऐसा नहीं भी हो सकता। मानव की बाह्य दृष्टि का कुछ भी महत्त्व नहीं; अन्दर की आँख ही सब कुछ है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३३१

अनासक्ति

यदि हम प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि मन में अनासक्ति की एक शक्ति होती है और वह केवल विचार में ही नहीं, बल्कि कार्यरूप

में और मानों भौतिक, बल्कि प्राणिक रूप में भी शरीर से पीछे हट कर स्थित हो सकती है। मन की इस अनासक्ति को शरीर की चीज़ों के प्रति उदासीनता की एक विशेष वृत्ति के द्वारा मज़बूत करना होगा; इसकी निद्रा या जागरण, गति या विश्राम, दुःख या सुख, स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य, शक्ति या थकान, आराम या कष्ट अथवा खान-पान की हमें कोई ख़ास परवाह नहीं करनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक भी हमें शरीर को ठीक हालत में नहीं रखना चाहिये; और हमें उग्र तपस्याओं में या भौतिक शरीर की निश्चयात्मक उपेक्षा में भी ग्रस्त नहीं होना चाहिये। पर साथ ही हमें भूख-प्यास अथवा कष्ट या रोग का भी अपने मन पर प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिये, न हमें शरीर की चीज़ों को वैसा महत्त्व ही देना चाहिये जैसा कि देहप्रधान एवं प्राणप्रधान मनुष्य उन्हें देता है, या फिर, निश्चय ही, इसे एक निरे साधन के रूप में बिलकुल, गौण प्रकार का महत्त्व ही देना चाहिये; इससे अधिक नहीं। इस करणात्मक महत्त्व को भी इतना नहीं बढ़ने देना चाहिये कि वह एक आवश्यकता का रूप धारण कर ले; उदाहरणार्थ, हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि मन की पवित्रता हमारे खाने-पीने की चीज़ों पर निर्भर करती है, यद्यपि एक विशेष अवस्था में खान-पान-सम्बन्धी नियम एवं प्रतिबन्ध हमारी आन्तरिक उन्नति के लिए उपयोगी होते हैं। दूसरी ओर हमें यह भी नहीं समझते रहना चाहिये कि मन, या यहाँ तक कि प्राण का भी खाने-पीने के ऊपर ही जो आधार है वह एक अभ्यास से अथवा इन तत्त्वों (शरीर, प्राण और मन) के बीच प्रकृति के द्वारा स्थापित एक रूढ़ सम्बन्ध से अधिक कुछ है। सच पूछो तो जो भोजन हम ग्रहण करते हैं उसे एक उलटे अभ्यास एवं नये सम्बन्ध के द्वारा घटा कर कम-से-कम कर सकते हैं और फिर भी मन या प्राण की शक्ति को, बिना किसी प्रकार की कमी के, सुरक्षित रख सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण विकास के द्वारा उन्हें इस प्रकार सधाया जा सकता है कि जिस मानसिक और प्राणिक शक्ति के साथ उनका सम्बन्ध है उनके गुप्त स्रोतों पर—भौतिक खाद्य पदार्थों की गौण सहायता की अपेक्षा—अधिक निर्भर रहना सीख कर वे एक महत्तर सम्भाव्य-शक्ति को विकसित कर लें।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३४३-४४

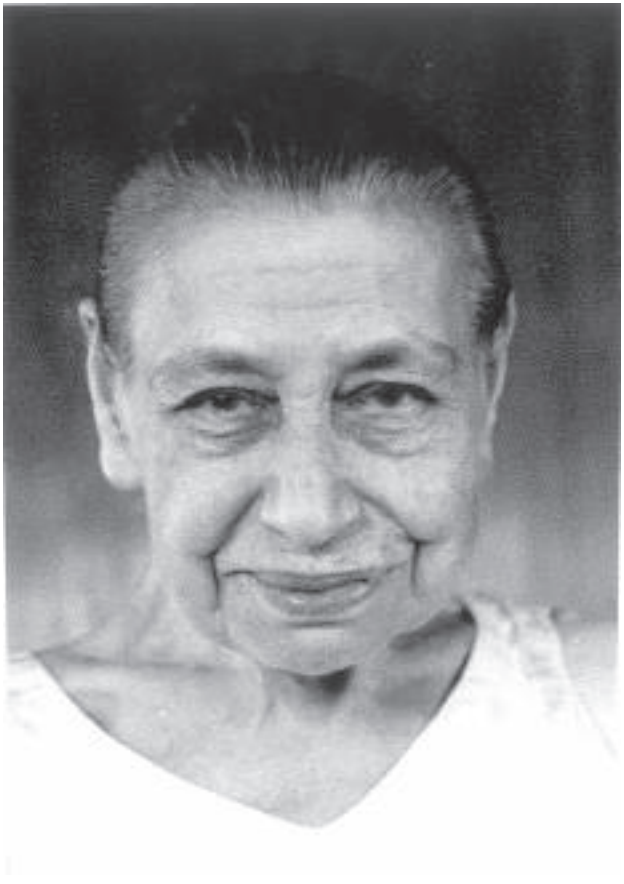

श्रीमां

अज्ञानी, सीमित, अहंकारी चेतना ही चमत्कारों की माँग करती है। जिस क्षण मनुष्य प्रबुद्ध हो उठता है, वह जानता है कि सब जगह और हमेशा चमत्कार ही हो रहा है।

और मनुष्य को इस चमत्कार और इस 'कृपा' पर जितनी अधिक श्रद्धा हो, वह उसे सब जगह–जहाँ वह निरन्तर उपस्थित है–देखने या अनुभव करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। अज्ञान और कृपा में श्रद्धा की कमी, अन्धा अहंकार ही मनुष्य को देखने से रोकता है।

—श्रीमाँ

भागवत प्रेम का योग

सभी जगतों के प्रभु, सभी प्राणियों के सखा

भगवान्, यहाँ तक कि जब वे स्वामी-रूप में होते हैं, किसी को दण्ड नहीं देते, धमकाते नहीं, आज्ञापालन के लिए विवश नहीं करते। यह तो मानव आत्मा ही है जिसे स्वेच्छा से उनकी ओर जाना और उनकी सर्वविजयिनी शक्ति के प्रति अपने-आपको सौंप देना है ताकि वे उसे अपनी पकड़ में ले सकें और अपने दिव्य स्तरों की ओर उठा ले जायें, और उसे असीम के द्वारा सीमित प्रकृति पर प्रभुत्व का और 'उच्चतम' की सेवा का आनन्द प्रदान कर सकें जिनके द्वारा अहंकार से और निम्न प्रकृति से छुटकारा मिलता है। इस सम्बन्ध की कुञ्जी है प्रेम, और भारतीय योग में सेवाभाव—*दास्यम्*—है, भागवत सखा की आनन्दमय सेवा या भागवत प्रेमी की उल्लास-भरी सेवा। सब लोकों के स्वामी, *गीता* में, अपने सेवक से, अपने भक्त से यही चाहते हैं कि तुम जीवन में मेरे निमित्तमात्र बनो, बस और कुछ नहीं; यह माँग वे एक सखा, मार्गदर्शक, उच्चतर आत्मा के रूप में करते हैं और अपने-आपको सब लोकों का अधिष्ठाता व सब प्राणियों का मित्र बताते हैं, *सर्वलोक महेश्वरं, सुहृदं सर्वभूतानाम्।* दोनों सम्बन्ध वस्तुतः साथ-साथ चलने चाहियें, इनमें से कोई भी दूसरे के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार परमेश्वर का वह पितृ-रूप ही नहीं, जो स्रष्टा-रूप से हमसे आज्ञापालन की माँग करता है क्योंकि वह हमारा जनक है, बल्कि वह पितृ-रूप भी जो वात्सल्य भरा है और जो हमें योग की निकटतर आत्मिक एकता की ओर ले जाता है—दोनों की असल कुञ्जी है प्रेम, और पूर्ण प्रेम में भय को प्रेरक भाव के रूप में स्वीकार करना असंगत है। भगवान् के साथ मानव आत्मा की अन्तरंगता ही उद्देश्य है, और भय सदा ही एक आड़ और एक दूरी ले आता है, यहाँ तक कि भागवत शक्ति के प्रति सम्भ्रम और पूजास्पद का भाव भी दूरी एवं भेदभाव का चिह्न है, और ये प्रेम की घनिष्ठ एकता में लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, भय निम्न प्रकृति की, निम्न स्व की चीज़ है, उच्चतर 'स्व' को पाना हो तो इसे एक तरफ़ कर देना होगा, ताकि तुम उसकी उपस्थिति का अनुभव कर सको।
CWSA खण्ड २४, पृ. ५६५-६६

प्रार्थना तथा प्रभु के साथ सम्बन्ध

प्रारम्भ में प्रार्थना निम्न स्तर पर भी हमारे लिए इस सम्बन्ध को तैयार करने में सहायता पहुँचाती है। यद्यपि इस अवस्था में, हमारे अन्दर जो बहुत-सी चीज़ें निरे अहंकार और आत्म-छलना से भरी होती हैं उनके साथ भी यह ताल मिलाये रहती है, लेकिन बाद में हम इसके मूल में स्थित आध्यात्मिक सत्य की ओर बढ़ सकते हैं। इसलिए मुख्य वस्तु है, इस प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध, मनुष्य-जीवन का ईश्वर से सम्पर्क, सचेतन आदान-प्रदान, न कि पार्थिव वस्तु की प्राप्ति। आध्यात्मिक विषयों में और आध्यात्मिक सम्पत्ति की खोज में यह सचेतन सम्बन्ध महान् शक्ति है; यह हमारे पूर्णतः आत्म-निर्भर संघर्ष तथा प्रयास से अधिक महत्तर शक्ति है और इसके द्वारा पूर्णतर आध्यात्मिक उन्नति एवं अनुभूति प्राप्त होती है। अवश्य ही, अन्त में प्रार्थना या तो उस महत्तर वस्तु में जाकर समाप्त हो जाती है जिसके लिए इसने हमें तैयार किया था—असल में जब तक हमारे अन्दर श्रद्धा, संकल्प, अभीप्सा हैं तब तक वह रूप, जिसे हम प्रार्थना के नाम से पुकारते हैं, उसकी अपने-आपमें कोई आवश्यकता ही नहीं है—अथवा यह केवल सम्बन्ध के हर्ष के लिए ही बनी रहती है। इसके उद्देश्य, इसके काम्य पदार्थ (अर्थ) भी उत्तरोत्तर ऊँचे-से-ऊँचे होते जाते हैं; फलतः अन्त में हम सर्वोच्च अहैतुकी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो अन्य किसी माँग या लालसा से रहित, शुद्ध एवं सरल दिव्य प्रेम से भरी भक्ति होती है।

भगवान् के प्रति ऐसा भाव रखने से दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं—दिव्य पिता और माता का पुत्र से सम्बन्ध और दिव्य सखा का सम्बन्ध। मानव आत्मा भगवान् को माता-पिता या सखा मान कर उनके पास सहायता के लिए, रक्षा के लिए, मार्गदर्शन के लिए, इष्टफल के लिए आती है—अथवा यदि इसका लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना हो तो यह उन्हें गुरु, शिक्षक, प्रकाशदाता मान कर उनकी शरण में जाती है, क्योंकि भगवान् ज्ञान के सूर्य हैं—अथवा वह दुःख-दर्द के समय सुख-शान्ति और मुक्ति के लिए भगवान् के पास जाती है, भले ही यह स्वयं दुःख से मुक्ति चाहती हो या इस दुःख-धाम जगत्-जीवन से अथवा इसके सभी आन्तरिक और वास्तविक कारणों से। *गीता* में जो चार प्रकार के भक्त माने गये हैं, वे उन्हीं में से तीन हैं, आर्त (दुःखित), अर्थार्थी (अपने लिए भोग्य पदार्थों की

कामना करने वाला), जिज्ञासु (ईश्वर-ज्ञान का अभिलाषी)। इन चीज़ों में हम एक विशेष प्रकार का क्रम पाते हैं। पिता का सम्बन्ध सदा ही कम निकट, तीव्र, स्निग्ध और अन्तरंग होता है, अतएव योग में इसका आश्रय कम ही लिया जाता है, क्योंकि योग चाहता है घनिष्ठ मिलन। दिव्य सखा का सम्बन्ध अधिक मधुर और अधिक अन्तरंग वस्तु है। इसमें असमानता के अन्दर भी समानता और घनिष्ठता के लिए अवकाश होता है, पारस्परिक आत्मदान प्रारम्भ करने की गुंजायश होती है, अपने अत्यन्त घनिष्ठ रूप में, जब अन्य प्रकार के लेन-देन का समस्त विचार लुप्त हो जाता है, जब इस सम्बन्ध में एकमात्र सुपर्याप्त प्रेम के उद्देश्य के सिवा और कोई उद्देश्य नहीं रहता, तब यह जीवनलीला के साथी के स्वतन्त्र और सुखद सम्बन्ध का रूप धारण कर लेता है। परन्तु माता-पुत्र का सम्बन्ध और भी अधिक निकट तथा अन्तरंग है, अतः, जहाँ धार्मिक उमंग अत्यन्त समृद्ध उल्लास से युक्त होती है वहाँ यह बहुत बड़ा भाग लेता है और मनुष्य के हृदय से अत्यन्त उत्साहपूर्वक उमड़ पड़ता है। आत्मा अपनी सभी कामनाओं और अपने कष्टों में मातृस्वरूपा आत्मा के पास जाती है और भगवती माता चाहती हैं कि ऐसा ही हो ताकि वे अपना प्रेममय हृदय पूरी तरह से उँडेल सकें। आत्मा उनकी ओर इसलिए भी मुड़ती है कि इस प्रेम का स्वयंसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है और इसलिए भी कि यह प्रेम हमें एक ऐसे घर का संकेत देता है जिसकी ओर हम जगत् में भटक चुकने के बाद मुड़ते हैं और एक ऐसे हृदय की ओर इंगित करता है जिसमें हम विश्राम पाते हैं। CWSA खण्ड २४, पृ. ५६७-६८

प्रेमी प्रभु के लिए ललक

परन्तु सबसे ऊँचा और सबसे महान् सम्बन्ध तो वह है जो साधारण धार्मिक प्रेरक भावों में से किसी से भी प्रारम्भ नहीं होता, बल्कि जो योग के असली सारतत्त्व से युक्त होता है तथा स्वयं प्रेम के निज स्वभाव से ही उद्भूत होता है; वह है 'प्रेमी' तथा 'प्रियतम' का अनुराग। जहाँ कहीं आत्मा को ईश्वर से पूर्ण मिलन की अभिलाषा होती है, वहाँ दिव्य उत्कण्ठा का यह रूप उन धर्मों में भी अपना मार्ग बना लेता है जो वैसे तो इसके बिना काम चलाते दीखते हैं और अपनी साधारण प्रणाली में इसे कोई स्थान

नहीं देते। यहाँ एकमात्र प्रार्थित वस्तु है प्रेम, एकमात्र भयजनक वस्तु है प्रेम का विलोप। एकमात्र दुःख है प्रेमी के वियोग का दुःख, क्योंकि और सब चीज़ें या तो प्रेमी के लिए अस्तित्व नहीं रखतीं अथवा वे उसके सामने प्रेम के प्रसंगों या फलों के रूप में ही उपस्थित हो सकती हैं न कि प्रेम के विषयों या अवस्थाओं के तौर पर। वास्तव में, प्रेमपात्र अपने स्वरूप से ही स्वयम्भू है, क्योंकि इसका मूल स्रोत किन्हीं दो आत्माओं में सत्ता की गुप्त एकता और उनके हृदय में उस एकता की अनुभूति या एकता की आकांक्षा ही है; हाँ, वे आत्माएँ फिर भी अपने-आपको एक-दूसरे से पृथक् और विभक्त समझने में समर्थ होती हैं। अतः, ये सब सम्बन्ध भी केवल प्रेम के ही लिए सत्ता के स्वयंसिद्ध अहैतुक आनन्द तक पहुँच सकते हैं। फिर भी वे अन्य प्रेरक भावों से ही शुरू होते हैं और कुछ अंशों में वे अन्त तक उन्हीं में अपनी क्रीड़ा का थोड़ा-बहुत सुख प्राप्त करते हैं। किन्तु यहाँ प्रेम ही प्रारम्भ है और प्रेम ही अन्त, और सम्पूर्ण लक्ष्य भी प्रेम ही है। यह ठीक है कि अधिकार की कामना भी वहाँ होती है, पर स्वयम्भू प्रेम की परिपूर्णता में यह भी पराजित हो जाती है और भक्त की अन्तिम अभिलाषा यही होती है कि उसकी भक्ति न तो समाप्त हो और न ही न्यून। वह स्वर्ग की या जन्म-मरण से छुटकारे की या किसी और पदार्थ की कामना नहीं करता, वह बस यही चाहता है कि उसका प्रेम नित्य और अविच्छिन्न हो। CWSA खण्ड २४, पृ. ५६९

सर्वत्र, सबमें भगवान् को देखो

इसी प्रकार विचारों का भी भगवान् के प्रति निवेदन होता है। अपने आरम्भ में यह मन को आराधना के विषय पर स्थिर करने का प्रयत्न होता है—क्योंकि चञ्चल मानव-मन स्वभावतः अन्य विषयों में लगा रहता है तथा जब इसे ऊपर की ओर उठाया जाता है तब भी संसार इसे लगातार अपनी ओर खींचता रहता है। परन्तु एकाग्रता के अभ्यास से अन्त में उन्हीं का चिन्तन करने का उसका स्वभाव बन जाता है और अन्य सब केवल गौण हो जाता है तथा इनका चिन्तन वह केवल चीज़ों के सम्बन्ध से करता है। चिन्तन के लिए प्रायः स्थूल प्रतिमा की या, अधिक अन्तरंग तथा विशिष्ट रूप में, किसी मन्त्र या भगवान् के नाम की सहायता ली जाती है

जिसके द्वारा भागवत सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। पद्धति के निर्माता शास्त्रकार मन की भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति के तीन सोपान मानते हैं; प्रथम, भगवान् के नाम, गुणावली तथा इनसे सम्बन्धित सभी बातों का निरन्तर श्रवण, दूसरे, इनका या भागवत सत्ता अथवा व्यक्तित्व का अनवरत मनन, तीसरे, लक्ष्य पर मन को स्थिर एवं एकाग्र करना या निदिध्यासन; इससे पूर्ण साक्षात्कार उपलब्ध होता है। जब इनका सहचारी अनुभव या एकाग्रता अत्यन्त सघन हों तो इन्हीं से (श्रवण, मनन, निदिध्यासन से) समाधि भी प्राप्त होती है, ऐसी समाहित अवस्था जिसमें चेतना बाहरी चीज़ों से दूर चली जाती है। परन्तु वास्तव में यह सब गौण ही है; एकमात्र मुख्य बात है, मन के विचार की आराध्य में प्रगाढ़ रति। चाहे यह ज्ञानमार्ग के ध्यान के सदृश प्रतीत होती है, पर अपनी भावना में यह उससे भिन्न है। अपने असली स्वरूप में यह निस्तब्ध नहीं, बल्कि तन्मय ध्यान है; यह भगवान् की सत्ता में लीन नहीं हो जाना चाहती, बल्कि भगवान् को हमारे अन्दर लाना और उनकी उपस्थिति के या उनकी प्राप्ति के गभीर हर्षावेश में हमें मग्न कर देना चाहती है; इसका आनन्द एकत्व की शान्ति नहीं, बल्कि मिलन का हर्षावेश है। यहाँ भी सम्भव है कि यह आत्म-उत्सर्ग पृथक्कारक हो जिसका परिणाम होगा जीवन के अन्य समस्त विचार का परित्याग करके इस हर्षावेश को प्राप्त करना, जो आगे चल कर उस पार के स्तरों में शाश्वत बन जाता है। अथवा यह उत्सर्ग व्यापक भी हो सकता है जिसमें सभी विचार भगवान् से परिपूर्ण होते हैं, यहाँ तक कि जीवन के कार्यों में भी प्रत्येक विचार उन्हीं को स्मरण करता है। जैसे अन्य योगों में, वैसे इसमें भी मनुष्य को सभी जगह और सबमें भगवान् दिखायी देने लगते हैं और वह अपनी सभी आन्तरिक क्रियाओं तथा बाह्य कार्यों में भगवान् के साक्षात्कार को प्रवाहित करने लगता है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ५७४-७५

अन्धकार तिरोहित होगा और उसकी जगह प्रकाश आ जायेगा; दुःख दूर हो जायेगा और उसकी जगह आनन्द ले लेगा; बुरे भाव छिन्न-भिन्न हो जायेंगे और उनकी जगह आ जायेगा **शाश्वत प्रेम**।

—श्रीमाँ

'योग के तत्त्व'

पुकार और योग्यता

योग शुरू करने से पहले कोई यह कैसे जान सकता है कि वह आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार है या नहीं?

पथ पर क़दम रखने से पहले कोई यह कैसे जान सकता है कि वह तैयार है या नहीं? वह सिर्फ़ इतना जान सकता है कि उसमें अभीप्सा है या नहीं, या वह पुकार को अनुभव कर सकता है या नहीं।

आपने कहा था कि योग के पथ में प्रवेश करने के लिए "तुम्हें बस यह जानना चाहिये कि तुम्हारी आत्मा योग की ओर मुड़ी हुई है या नहीं।" लेकिन पथ में प्रवेश करने से पहले हम यह स्पष्ट रूप से कैसे जान सकते हैं भला?

यह बस अनुभव करने या न करने का प्रश्न है। यह नहीं कि "उसे कैसे जाना जाये"। तुम या तो जानते हो या नहीं जानते, तुम उसे अनुभव करते हो या नहीं करते। जब कोई ख़ुश हो या ग़ुस्से में, या दुःखी हो, तब तुम यह नहीं पूछते कि कैसे जाना जाये—तुम फ़ौरन वह जान लेते हो।

लोग यह कैसे जान सकते हैं कि उनमें कोई आध्यात्मिक सम्भावनाएँ हैं या नहीं?

किसी को पता नहीं होता। जब आत्मा उन्हें धक्का देती है तो वे भगवान् की ओर मुड़ जाते हैं, बस यही चीज़ है।

कृपा करके आप मुझे यह बताइये कि क्या मेरे अन्दर आध्यात्मिक उपलब्धि की कोई सम्भावना है?

ऐसे प्रश्न पूछना समय की बरबादी है। जब तुमने आध्यात्मिक पथ में प्रवेश कर लिया है तब तुम्हें अपनी सम्भावनाओं पर नहीं, बल्कि केवल माताजी की शक्ति पर निरन्तर भरोसा करते रहना चाहिये।

क्या यह सच नहीं है कि जो अपने स्वभाव को अच्छी तरह जाने बिना और पथ की सम्भावनाओं और कठिनाइयों का ज्ञान पाये बिना योग-पथ पर प्रवेश कर लेते हैं उन्हें काफ़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है?

योग-पथ पर पूरे ज्ञान के साथ या किसी भी प्रकार के ज्ञान के साथ कौन प्रवेश करता है भला? सभी अज्ञानी हैं; केवल योग के द्वारा ही उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है।

कभी-कभी कोई व्यक्ति पथ में इसलिए प्रवेश करता है क्योंकि वह अभीप्सा का अनुभव करता है या पुकार का, लेकिन बाद में वह प्रयास छोड़ देता है। इसका क्या कारण है? क्या यह इसलिए नहीं होता क्योंकि प्रवेश करने से पहले वह अपनी प्रकृति की सम्भावनाओं को परख नहीं सकता?

क्योंकि उसकी अभीप्सा मन्द पड़ जाती है या फिर वह पुकार के प्रति निष्ठावान् नहीं होता। यहाँ परखने या मूल्यांकन करने का प्रश्न नहीं है। मैंने तुमसे कहा है कि कोई भी जान या परख नहीं सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि जब तक पूरा स्वभाव शुद्ध नहीं हो जाता तब तक वास्तविक रूप में योग की शुरुआत नहीं होती। क्या यह सच है?

ऐसा कहना बेवकूफ़ी है।

क्या यह सच है कि सिर्फ ऐसे ही व्यक्ति को माँ स्वीकारती हैं जिसे साधना में कुछ अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं, जब कि ऐसे, जिसे ऐसी अनुभूतियाँ नहीं हुईं, और जो साधारण चेतना में रहता है, उसे माँ नहीं स्वीकारतीं?

उसे माँ स्वीकार क्यों नहीं करतीं? "स्वीकारने" से तुम्हारा क्या मतलब है?

अपनी प्रकृति की रुकावटों की वजह से अगर साधक अपने-आपको पूरी तरह श्रीमाँ की ओर नहीं खोल सकता, तो क्या माँ उसे स्वीकार

नहीं करेंगी?

ऐसे प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। जो लोग यहाँ योग का अनुसरण करते हैं, माँ उनको स्वीकारती हैं—"स्वीकारने" का मतलब है, योग में "प्रवेश मिलना, शिष्य के रूप में स्वीकार करना।" परन्तु योग में प्रगति और योग में सिद्धि साधक के उद्घाटन की अवस्था पर निर्भर करती हैं।

जब साधक साधना में बारम्बार गम्भीर मुश्किलों का सामना करता है और अपनी निम्न प्रकृति का बहिष्कार नहीं कर सकता, तब उसे अपनी श्रद्धा को बनाये रखने और पथ पर टिके रहने में कौन-सी चीज़ सहायता करेगी?

अपनी निम्न प्रकृति को पूरी तरह कौन त्याग सकता है भला? तुम बस इतना ही कर सकते हो कि अभीप्सा करो, निम्न आवेशों का त्याग कर दो और बाक़ी सब के लिए भगवान् का आह्वान करो।

गीता में कहा गया है कि हज़ारों में थोड़े ही भगवान् को खोजते हैं और उन थोड़ों में भी एक या दो ही 'उन' तक पहुँच पाते हैं। क्या यह सच है?

अगर तुम अपने ही बल-बूते पर यह करो तो बहुत कम ही यह कर पायेंगे। परन्तु भगवान् पर भरोसा रख कर, उनकी 'कृपा' से, यह सम्भव हो जाता है।

साधक का अन्तिम लक्ष्य क्या होना चाहिये? क्या वह योगी बनना नहीं होना चाहिये?

भगवान् के साथ पूरी तरह से एक हो जाना अन्तिम लक्ष्य है। जब कोई निरन्तर भगवान् के सान्निध्य में रहता है, उसे योगी कहा जा सकता है, परन्तु यह ऐक्य पूर्ण होना चाहिये। ऐसे योगी हैं जिन्होंने केवल आध्यात्मिक स्तर पर ऐक्य पाया है, दूसरे मन और हृदय के साथ एक हैं, और कुछ अन्य प्राण के साथ भी एक हैं। हमारे योग में हमारा लक्ष्य शारीरिक चेतना और अतिमानसिक चेतना में भी ऐक्य पाना है।

—श्रीअरविन्द

श्रीमाँ के वचन

भगवान्-सम्बन्धी पूर्ण विचार

"यदि हमें पूर्णयोग करने के लिए कोशिश करनी है तो यह अच्छा होगा कि भगवान्-सम्बन्धी एक ऐसे विचार को लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो। हृदय में एक ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो किन्हीं सँकरी सीमाओं से रहित उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए बहुत विशाल हो। हमें केवल एक साम्प्रदायिक एवं धार्मिक बाहरी दृष्टि को ही नहीं, बल्कि उन सभी एकपक्षीय दार्शनिक विचारों को भी छोड़ देना होगा जो 'अनिर्वचनीय भगवान्' को एक सीमित करने वाले मानसिक सूत्र में जकड़ देने का यत्न करते हैं।" ('योग-समन्वय')

मधुर माँ, "भगवान्-सम्बन्धी पूर्ण विचार" से श्रीअरविन्द का क्या तात्पर्य है?

प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत रुचि, अपनी समझने की सम्भावनाओं, अपनी मानसिक पसन्दों और यहाँ तक कि अपनी कामनाओं के अनुसार अपने लिए भगवान्-सम्बन्धी एक भावना बना लेता है। लोग जिस भगवान् को चाहते हैं, जिस भगवान् से मिलना चाहते हैं उसकी एक धारणा तैयार कर लेते हैं, और इसलिए स्वभावतः अपनी उपलब्धि को बहुत अधिक सीमित कर देते हैं।...

तुम भगवान् के बारे में एक ऐसी धारणा बना लेते हो जो तुम्हारे स्वभाव तथा तुम्हारी अपनी धारणा के अनुकूल होती है, ठीक है न? इसलिए अगर तुम अपने-आपसे थोड़ा बाहर निकलना चाहो और पूर्णयोग के अभ्यास का प्रयत्न करो तो तुम्हें ठीक-ठीक यह समझने का प्रयत्न करना होगा कि भगवान् केवल वही नहीं हैं जैसा कि तुम उन्हें सोचते-समझते अथवा अनुभव करते हो, बल्कि वह भी हैं जो दूसरे उन्हें समझते और अनुभव करते हैं—और उसके साथ-ही-साथ कुछ और भी हैं जिसे कोई भी मनुष्य न तो समझ सकता है और न ही अनुभव कर सकता है।

अतः, यदि तुमने इतना समझ लिया है तो भगवान्-सम्बन्धी समग्रता

के पथ पर तुमने पहला क़दम रख दिया है।

सहज भाव से, और इस विषय में सचेतन हुए बिना ही, लोग आग्रहपूर्वक यह चाहते हैं कि भगवान् हमारी धारणाओं के अनुरूप हों। क्योंकि, बिलकुल सहज रूप से, ज़रा भी विचार किये बिना, वे तुमसे कहते हैं : "ओह! यह चीज़ दिव्य है, यह चीज़ दिव्य नहीं है!" भला इस विषय में वे क्या जानते हैं? और फिर ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने भगवत्पथ पर अभी तक पाँव भी नहीं रखा है, जो यहाँ आते हैं और वस्तुओं और लोगों को देखते हैं और तुमसे कहते हैं : "इस आश्रम का भगवान् के साथ कोई नाता नहीं है, यह बिलकुल ही दिव्य नहीं है।" परन्तु उनसे यदि यह पूछा जाये कि : "आख़िर दिव्य है क्या?" तो इसका उत्तर देना उनके लिए कठिन हो जायेगा; वे इस बारे में कुछ नहीं जानते। और लोग जितना कम जानते हैं उतना ही अधिक चीज़ों के बारे में अपना निर्णय देते रहते हैं; यह एकदम पक्की बात है। जितना अधिक मनुष्य जानता है, वस्तुओं के विषय में अपने निर्णय की उतनी ही कम घोषणा करता है।

और एक ऐसा मुहूर्त आता है जब हम बस इतना ही कर सकते हैं कि देखते रहें; परन्तु उस समय निर्णय देना असम्भव हो जाता है। उस समय हम वस्तुओं को देख सकते हैं, और उसी तरह देख सकते हैं जैसी कि वे हैं—अपने पारस्परिक सम्बन्धों और अपने स्थान में जैसी हैं, और इस अभिज्ञता के साथ देखते हैं कि वे अभी जिस स्थान में हैं उस स्थान और उन्हें जिस स्थान में होना चाहिये उस स्थान के बीच क्या अन्तर है —क्योंकि बस यही संसार में सबसे बड़ी अव्यवस्था है—पर हम राय नहीं बनाते, केवल देखते रहते हैं।

और एक मुहूर्त ऐसा आता है जब हम यह कहने में असमर्थ हो जाते हैं : "यह वस्तु दिव्य है और यह दिव्य नहीं है", क्योंकि एक ऐसा मुहूर्त आता है जब हम सारे के सारे विश्व को इतने पूर्ण और व्यापक रूप में देखते हैं कि, सच पूछा जाये तो, उसकी प्रत्येक वस्तु को अस्त-व्यस्त किये बिना उसमें से किसी वस्तु को निकाल लेना असम्भव होता है।...

अब, यदि कोई फिर से इस चेतना से नीचे, एक अधिक बाहरी चेतना में चला जाता है तो स्वभावतः वह उन चीज़ों को ठीक-ठीक अनुभव करना शुरू कर देता है जो सत्य चेतना तक पहुँचने में उसकी सहायता

करती हैं और उन चीज़ों को भी अनुभव करता है जो रास्ता रोकती हैं या पीछे खींचती हैं, यहाँ तक कि प्रगति के विरुद्ध संघर्ष करती हैं। और इस कारण दृष्टिकोण बदल जाता है और मनुष्य यह कहने के लिए बाध्य हो जाता है : "यह दिव्य है, या यह भगवान् की ओर जाने में मेरा सहायक है; और वह भगवान् के विरुद्ध है, भगवान् का शत्रु है।"

परन्तु यह कर्म के लिए, स्थूल जीवन में क्रिया करने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण है—कारण, अभी तक मनुष्य उस चेतना तक नहीं पहुँचा है जो उस सबका अतिक्रमण करती है; कारण, मनुष्य ने उस आन्तरिक परिपूर्णता को नहीं प्राप्त किया है जिसे पा लेने पर उसको फिर संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह संघर्ष के क्षेत्र से या संघर्ष के काल से या संघर्ष की उपयोगिता से परे चला जाता है। परन्तु उससे पहले, अपनी चेतना या कर्म में उस स्थिति को प्राप्त करने से पहले, संघर्ष अवश्य रहता है, और यदि संघर्ष रहता है तो वहाँ चुनाव भी रहता है और चुनाव करने के लिए विवेक आवश्यक होता है।

और विवेक का सबसे अचूक साधन है, भागवत 'संकल्प' और 'पथप्रदर्शन' के प्रति सचेतन, स्वेच्छाकृत, यथासम्भव पूर्ण आत्म-समर्पण। उस स्थिति में कोई भूल करने और झूठी ज्योतियों को सच्ची ज्योतियाँ मानने का कोई ख़तरा नहीं होता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १-४

बौद्धिक तैयारी और पूर्णयोग

श्रीअरविन्द यहाँ कहते हैं : "यह बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है।"
('योग-समन्वय')

हाँ, शक्तिशाली योग का अर्थ है, बहुत पूर्ण योग, जिसमें बहुत-सी चीज़ें होती हैं, जो अपने अन्दर बहुत-से तत्त्वों का समावेश करता है। अतएव बौद्धिक ज्ञान का यह तत्त्व योग को अधिक शक्तिशाली बना देता है।

क्या यह वही चीज़ है जो पूर्णयोग है?

ठीक वही नहीं। पूर्णयोग वह योग है जो सत्ता के सभी अंगों को और सत्ता की सभी क्रियाओं को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। परन्तु एक सत्ता की क्रियाएँ उतनी शक्तिशाली नहीं होतीं जितनी कि दूसरी की क्रियाएँ; और एक सत्ता की समग्रता उतनी सम्पूर्ण नहीं होती जितनी कि दूसरी की समग्रता। तुम नहीं समझे?

यदि तुम्हारी समस्त सत्ता, जैसी कि वह है, योग में भाग लेती है तो वह तुम्हारे लिए पूर्णयोग बन जाता है। परन्तु तुम्हारा भाग लेना किसी अन्य व्यक्ति के भाग लेने की तुलना में बहुत कमज़ोर और अति सामान्य हो सकता है, और तुम्हारे अन्दर विद्यमान चेतना के तत्त्वों की संख्या दूसरे व्यक्ति के अन्दर विद्यमान चेतना के तत्त्वों की तुलना में बहुत कम हो सकती है। और फिर भी तुम्हारा योग तुम्हारे लिए पूर्ण होता है, अर्थात्, वह तुम्हारी सत्ता के सभी भागों और सभी क्रियाओं के अन्दर किया जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ९

कार्य का भावात्मक और अभावात्मक पक्ष

मधुर माँ, यहाँ श्रीअरविन्द लिखते हैं : "इस सारे प्रारम्भिक काल में उसे (व्यक्ति को) निम्नतर प्रकृति के साधनों के द्वारा काम करना होता है।" ('योग-समन्वय')

यह कौन-सा कार्य है, और इसे कैसे सम्पन्न किया जाता है?

इस कार्य का एक भावात्मक पक्ष है और एक अभावात्मक पक्ष।

भावात्मक पक्ष है, अपनी अभीप्सा को बढ़ाना, अपनी चेतना को विकसित करना, अपनी सत्ता को एकीकृत करना, अपने अन्दर पैठ कर अपनी चैत्य सत्ता के साथ अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करना; अपनी सत्ता के सभी अंगों को, सभी गतिविधियों को, सभी क्रियाओं को अपने हाथ में लेना और उन्हें चैत्य चेतना के सम्मुख रख देना ताकि वे इस केन्द्र के साथ सम्बन्ध में अपने सच्चे स्थान पर आ जायें; अन्त में अपनी समस्त अभीप्सा को भगवान् की ओर तथा समस्त प्रगति को भगवान् की ओर व्यवस्थित करना। यह है भावात्मक पक्ष।

इसके साथ-ही-साथ अभावात्मक पक्ष में आता है, विधिपूर्वक और

विवेक के साथ उन सभी प्रभावों को अस्वीकार करना जो बाहर से या अवचेतना या निश्चेतना से या वातावरण से आते हैं तथा आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाते हैं। हमें इन प्रभावों को, इन सुझावों को, इन आवेगों को पहचानना चाहिये और इनके बार-बार आने के कारण कभी हतोत्साह न होना चाहिये तथा कभी उनकी इच्छा के अधीन न होकर, विधिपूर्वक उनको अस्वीकार करना चाहिये। इसके साथ-ही-साथ हमें अपनी सत्ता के अन्दर उन सभी विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करना चाहिये जो अन्धकारपूर्ण, अहंभावपूर्ण, अचेतन, यहाँ तक कि दुर्भावनापूर्ण भी होते हैं, जो इन बुरे प्रभावों को, सचेतन या अचेतन रूप से, प्रत्युत्तर देते हैं, और जो केवल उन्हें चेतना में प्रवेश ही नहीं करने देते बल्कि कभी-कभी उन्हें वहाँ जम कर स्थापित भी होने देते हैं। यह है अभावात्मक पक्ष।

दोनों का ही अभ्यास साथ-साथ करना चाहिये। समय के अनुसार, मौक़े के अनुसार, आन्तरिक तैयारी के अनुसार, कभी तो भावात्मक पक्ष पर ज़ोर देना चाहिये और कभी अभावात्मक पर, परन्तु किसी को भी भूलना कभी नहीं चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २७-२८

आन्तरिक रिपु

मधुर माँ, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी: "आत्मा के आन्तरिक रिपुओं की... बलि शब्द के कठोरतम अर्थ में बलि चढ़ा देनी होगी, भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छाया द्वारा जिज्ञासु की चेतना पर कैसा भी दु:ख क्यों न डाल जायें।" ('योग-समन्वय')

नहीं समझे? ऐसा कभी तुम्हारे साथ नहीं हुआ? कभी नहीं? जब, उदाहरणार्थ, तुम्हारे अन्दर एक ऐसी वृत्ति होती है जिसे तुम पसन्द नहीं करते—क्रोध या घृणा की वृत्ति, वैसी सभी प्रकार की चीज़ें, अथवा कोई छल-कपट या अन्य कोई चीज़ जो तुम्हें पसन्द नहीं—जब तुम उसका त्याग करते हो, अपने अन्दर से बाहर फेंक देने का प्रयत्न करते हो तो वह तुम्हें चोट पहुँचाती है, पहुँचाती है न? उससे तुम्हें दर्द होता है, ऐसा लगता है मानों कोई वस्तु खींच कर बाहर निकाली जा रही हो। हाँ, बस,

इसी दर्द के विषय में वे कह रहे हैं; वे कहते हैं कि जिस बुरी चीज़ को तुम अपने अन्दर से निकाल फेंकते हो वही, जाते-जाते, विदाई के समय की भेंट के रूप में, एक हलकी-सी नन्हीं चोट तुम्हें दे जाती है। बस, वे यही बात कह रहे हैं।

कारण, मनुष्य सर्वदा इस भ्रम में रहता है कि दर्द स्वयं उसका अपना होता है। यह सच नहीं है। दर्द ऐसी चीज़ है जो तुम पर थोपी जाती है। वही घटना, अपने समस्त ब्योरे में, **बिलकुल** एक ही ढंग से, तुम्हारे ऊपर पीड़ा की कोई छाया डाले बिना, घट सकती है; इसके विपरीत, कभी-कभी तो वह तुम्हें उल्लासपूर्ण हर्ष से भर सकती है। और फिर भी वह ठीक वही चीज़ होती है। परन्तु एक स्थिति में मनुष्य विरोधी शक्तियों की ओर खुला होता है जिनका वह त्याग करना चाहता है और दूसरी में, वह नहीं खुला होता, वह पहले ही उनसे बहुत अधिक दूर होता है और अब उनसे प्रभावित नहीं होता; और इसलिए, जिस अभावात्मक पक्ष का वे प्रतिनिधित्व करती हैं उसे अनुभव करने के बदले वह केवल भावात्मक पक्ष का अनुभव करता है जिसका प्रतिनिधित्व भगवान् करते हैं। भागवत 'कृपा' ही तुम्हें आगे बढ़ाती है और भागवत 'कृपा' से ही मनुष्य दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। परन्तु जो भागवत 'कृपा' मनुष्य को आगे बढ़ाती है उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने के बदले वह उस कुत्सित वस्तु के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है जिससे वह छुटकारा पाना चाहता है; और इसलिए, स्वभावतः, वह ऐसा अनुभव करता और दुःख पाता है।

यह एक ऐसा परीक्षण है जिसे तुम कर सकते हो, यदि तुम बस, थोड़े-से सचेतन होओ। तुम्हारे अन्दर कोई वस्तु है जिसे तुम नहीं चाहते, कोई बुरी चीज़—किसी-न-किसी कारणवश तुम उसे नहीं चाहते, तुम उसे बाहर निकाल देना चाहते हो—हाँ, यदि तुम उस वस्तु के साथ थोड़ा-सा भी तादात्म्य स्थापित करते हो तो तुम निकाल बाहर करने का कष्ट अनुभव करते हो; यदि, इसके विपरीत, तुम दिव्य शक्ति के साथ एकात्म होते हो जो तुम्हें मुक्त करने आती है तो तुम भगवत्कृपा का आनन्द अनुभव करते हो —और तुमने जो प्रगति कर ली है उसका परमोल्लास अनुभव करते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १०१-१०२

अपने-आपको क्रियाशील बनाने वाला ध्यान

"इस योग का अभ्यास एकमात्र केन्द्रीय मोक्षदायक ज्ञान के सतत स्मरण की अपेक्षा रखता है।... सबमें एक ही आत्मा है, एकमेव भगवान् ही सब कुछ हैं; सब भगवान् में हैं, सब भगवान् हैं और विश्व में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है,—यह विचार या यह श्रद्धा तब तक कर्मी की चेतना की पृष्ठभूमि में सतत रहती है जब तक कि यह उसकी चेतना का सम्पूर्ण सारतत्त्व ही नहीं बन जाती। इस प्रकार के स्मरण को, अर्थात् अपने-आपको क्रियाशील बनाने वाले इस प्रकार के ध्यान को उस तत् के—जिसका हम इतने शक्तिशाली रूप से स्मरण करते हैं अथवा इतने अनवरत रूप से ध्यान करते हैं,—गभीर और निर्बाध अन्तर्दर्शन तथा सजीव और सर्वस्पर्शी ज्ञान में बदल जाना चाहिये और निश्चय ही अन्त में यह इसमें बदल भी जाता है।" ('योग-समन्वय')

मधुर माँ, "अपने-आपको क्रियाशील बनाने वाले ध्यान" से श्रीअरविन्द का क्या तात्पर्य है?

यह एक ऐसा ध्यान है जिसमें तुम्हारी सत्ता को रूपान्तरित करने की शक्ति होती है। यह एक ऐसा ध्यान है जो तुम्हें आगे बढ़ाता है, यह उस निश्चल-निष्क्रिय ध्यान के विपरीत है जो गतिहीन और अपेक्षाकृत जड़ होता है और जो न तो तुम्हारी चेतना में किसी चीज़ को परिवर्तित करता है और न तुम्हारी जीवन-पद्धति में। सक्रिय ध्यान रूपान्तर सिद्ध करने का ध्यान होता है।

साधारणतया लोग सक्रिय ध्यान का अभ्यास नहीं करते। जब वे ध्यान में—अथवा कम-से-कम जिसे वे "ध्यान" कहते हैं—प्रवेश करते हैं, वे एक प्रकार की निश्चलता में प्रवेश कर जाते हैं, जहाँ कुछ भी हिलता-डुलता नहीं—और वे उसमें से ठीक वैसे ही बाहर निकलते हैं जैसे प्रवेश करते समय होते हैं; और न तो उनकी सत्ता में, और न उनकी चेतना में ही कोई परिवर्तन होता है। और वह ध्यान जितना ही अधिक गतिहीन होता है वे उतने ही अधिक प्रसन्न होते हैं। वे इस प्रकार शाश्वत काल तक ध्यान

कर सकते हैं, पर इससे न तो विश्व में और न उनके अन्दर ही कभी कोई परिवर्तन आयेगा। यही कारण है कि श्रीअरविन्द सक्रिय ध्यान की बात कह रहे हैं जो इसके एकदम विपरीत है। यह रूपान्तर लाने वाला ध्यान है।

इसे कैसे किया जाता है? क्या इसे किसी भिन्न तरीक़े से किया जाता है?

मेरे ख़याल से अभीप्सा भिन्न प्रकार की होनी चाहिये, मनोभाव भिन्न प्रकार का होना चाहिये। "भिन्न तरीक़ा", "तरीक़ा" से तुम्हारा क्या मतलब है—(हँसी) बैठने का तरीक़ा?... वह नहीं? आन्तरिक तरीक़ा?

जी।

परन्तु हर एक के लिए यह भिन्न होता है।

मेरे ख़याल से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है यह जानना कि हम क्यों ध्यान करते हैं। बस, यही चीज़ है जो ध्यान को उसकी विशेषता प्रदान करती है, जो उसे इस या उस प्रकार का बनाती है।

तुम दिव्य शक्ति की ओर उद्घाटित होने के लिए ध्यान कर सकते हो, तुम साधारण चेतना का त्याग करने के लिए ध्यान कर सकते हो, तुम अपनी सत्ता की गहराई में पैठने के लिए ध्यान कर सकते हो, तुम यह जानने के लिए ध्यान कर सकते हो कि तुम अपने-आपको समग्र रूप से कैसे दे सकते हो; तुम सभी प्रकार की चीज़ों के लिए ध्यान कर सकते हो। तुम शान्ति और स्थिरता और निश्चल-नीरवता में प्रवेश करने के लिए ध्यान कर सकते हो—लोग साधारणतया यही करते हैं, पर अधिक सफलता पाये बिना। परन्तु तुम रूपान्तर साधित करने की 'शक्ति' पाने के लिए, जिन सब स्थलों को रूपान्तरित करने की आवश्यकता है उनका पता लगाने के लिए, प्रगति की धारा का पता लगाने के लिए भी ध्यान कर सकते हो। और फिर, तुम बहुत व्यावहारिक कारणों से भी ध्यान कर सकते हो : जब कोई कठिनाई दूर करनी हो, कोई समाधान पाना हो, जब तुम किसी-न-किसी कार्य में सहायता चाहते हो। तुम उस सबके लिए भी ध्यान कर सकते हो।

मेरे ख़याल से प्रत्येक व्यक्ति की ध्यान करने की अपनी निजी पद्धति होती है। परन्तु कोई यदि अपने ध्यान को सक्रिय बनाना चाहता हो तो उसमें प्रगति करने की अभीप्सा अवश्य होनी चाहिये और प्रगति की इस अभीप्सा में सहायता करने तथा उसे चरितार्थ करने के लिए उसे ध्यान करना चाहिये। तब वह सक्रिय बन जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १०७-०९

भगवान् से माँगना

"एक आध्यात्मिक 'सत्यम्' और 'ऋतम्' ने इस संसार के शुभ और अशुभ को अपूर्णता या मिथ्यात्व का दोषी ठहराया है और एक परम शुभ को खोल दिया है...। परन्तु इन सबके पीछे तथा इनके अन्दर उसने एक देवत्व को अनुभव किया है जो ये सभी चीज़ें है,—'प्रकाशदाता', 'मार्गदर्शक', 'सर्वज्ञ', 'शक्ति का स्वामी', 'आनन्द का दाता', 'सखा', 'सहायक', 'पिता', 'माता', जगत् क्रीड़ा में 'खेल का साथी', उसकी सत्ता का 'परम प्रभु', उसकी अन्तरात्मा का 'प्रियतम' और 'प्रेमी'।" ('योग-समन्वय')

यदि, उदाहरणार्थ, हम कोई बात जानना चाहते हैं अथवा हमें पथ-प्रदर्शन की या किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है, हम, अपनी आवश्यकता के अनुसार, उसे भगवान् से कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

उसे भगवान् से माँग कर। यदि तुम 'उनसे' नहीं माँगते तो उसे कैसे पा सकते हो?

यदि तुम भगवान् की ओर मुड़ो और 'उन पर' पूरा भरोसा रखो और 'उनसे' माँगो तो तुम उस चीज़ को पा लोगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है—आवश्यक रूप में वही चीज़ नहीं जिसकी तुम कल्पना करते हो कि तुम्हें उसकी ज़रूरत है; परन्तु सचमुच में जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसे तुम पा जाओगे। परन्तु तुम्हें 'उनसे' माँगना होगा।

तुम्हें सच्चाई के साथ यह परीक्षण करने की कोशिश करनी चाहिये। तुम सभी प्रकार के बाहरी उपायों के द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयास करो

और फिर यह आशा करो कि भगवान् तुम्हें दे दें, यहाँ तक कि 'उनसे' माँगे बिना ही दे दें, ऐसा नहीं होता, निस्सन्देह, जब तुम चाहते हो कि कोई व्यक्ति तुम्हें कोई चीज़ दे तो तुम उससे वह चीज़ माँगते हो, माँगते हो न? तब तुम यह आशा क्यों करते हो कि भगवान् तुम्हारे माँगे बिना ही तुम्हें दे दें?

साधारण मानव-चेतना में यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। मनुष्य किसी चीज़ की कल्पना करता है और कहता है: "मुझे इसकी आवश्यकता है, मुझे इस सम्बन्ध की आवश्यकता है, मुझे इस प्रकार का प्रेम चाहिये, मुझे यह ज्ञान चाहिये आदि-आदि। हाँ, भगवान् को यह चीज़ मुझे देनी चाहिये, अन्यथा वे भगवान् ही नहीं हैं।" कहने का मतलब, तुम समस्या को पूरी तरह से उलट देते हो।

सबसे पहले, तुम कहते हो: "मुझे आवश्यकता है।" क्या तुम जानते हो कि उस चीज़ की तुम्हें सचमुच आवश्यकता है या वह केवल एक धारणा है जो तुमने बना ली है या वह एक कामना है या एकदम कोई अज्ञानपूर्ण क्रिया है? पहली बात: तुम इस विषय में कुछ भी नहीं जानते।

दूसरी बात: निश्चित रूप से, तुम अपनी निजी इच्छा भगवान् पर लादना चाहते हो जब तुम उनसे कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है।" और तब तुम उस चीज़ को उनसे माँगते भी नहीं कि "मुझे यह चीज़ दीजिये।" तुम कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है। अतः, जब मुझे इसकी ज़रूरत है, वह मेरे पास अवश्य आनी चाहिये, बिलकुल स्वाभाविक रूप में, अपने-आप ही; भगवान् का यह कर्तव्य है कि जिन-जिन चीज़ों की मुझे आवश्यकता हो उन्हें वे मुझे दें।"

परन्तु यदि ऐसा हो कि तुम सचमुच यह न जानो कि तुम्हारी आवश्यकता क्या है और वह केवल एक भ्रम हो और सत्य न हो और, इस व्यापार में, तुम उसे इर्द-गिर्द के प्रत्येक व्यक्ति से माँगो और भगवान् के पास न जाओ, अपने तथा उनके बीच कोई सम्बन्ध न विकसित करो, उनकी बात न सोचो या अपने मनोभाव में कम-से-कम थोड़ी सच्चाई रख कर उनकी ओर न मुड़ो, तो, चूँकि तुम उनसे कुछ नहीं माँगते, उनके लिए ऐसा कोई कारण नहीं कि वे तुम्हें कोई चीज़ दें।

परन्तु तुम यदि उनसे माँगो तो, चूँकि 'वे' भगवान् हैं 'वे' तुमसे कुछ

अधिक अच्छे रूप में जानते हैं कि तुम्हें क्या चाहिये; और 'वे' तुम्हें वह चीज़ देंगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है।

अथवा, हो सकता है कि तुम आग्रह करो और अपनी निजी इच्छा 'उन' पर लादना चाहो तो यह सम्भव है कि 'वे' तुम्हें वह चीज़ दे भी दें जिसे तुम चाहते हो ताकि 'वे' तुम्हें अवगत करा दें और तुम्हारी भूल के विषय में तुम्हें सचेतन बना दें कि सचमुच वह चीज़ वह नहीं थी जिसकी तुम्हें आवश्यकता थी। और फिर तुम प्रतिवाद करना आरम्भ करते हो —मेरा मतलब यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप से तुम, मैं यहाँ सभी मनुष्यों की चर्चा कर रही हूँ—और कहते हो: "भगवान् ने मुझे ऐसी चीज़ क्यों दी है जो मुझे हानि पहुँचाती है?"—यह बात तो बिलकुल भूल ही जाते हो कि वास्तव में स्वयं तुमने ही वह चीज़ माँगी थी!

दोनों ही अवस्थाओं में तुम सर्वदा आपत्ति करते हो। यदि 'वे' तुम्हारी माँगी वस्तु दे देते हैं और वह चीज़ तुम्हें लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक हानि पहुँचाती है तो तुम आपत्ति करते हो। और फिर, यदि 'वे' उसे नहीं देते तो भी तुम आपत्ति करते हो: "कैसी बात है! मैंने 'उनसे' कहा कि मुझे इसकी ज़रूरत है और 'वे' मुझे वह चीज़ नहीं देते।"

दोनों ही अवस्थाओं में तुम शिकायत करते हो, और बेचारे भगवान् दोषी बनते हैं।

केवल, इन सब बातों के स्थान पर, यदि तुम्हारे अन्दर 'उस वस्तु' को पाने की महज़ एक अभीप्सा, उत्कण्ठा, तीव्र ज्वलन्त आवश्यकता का बोध हो जिसे तुम कम या अधिक स्पष्ट रूप में अपनी सत्ता का परम 'सत्य', सभी वस्तुओं का 'मूल स्रोत', सर्वोपरि 'शुभ', हम जो कुछ चाहते हैं उसका 'उत्तर', सभी समस्याओं का 'समाधान' समझते हो; यदि तुम्हारे अन्दर यह आतुर माँग है और तुम उसे उपलब्ध करने की अभीप्सा करते हो तो तुम फिर भगवान् से कभी यह नहीं कहोगे कि: "मुझे यह दो, मुझे वह दो," अथवा: "इसकी मुझे आवश्यकता है, मुझे वह मिलनी ही चाहिये।" तुम 'उनसे' कहोगे: "मेरे लिए वही करो जो आवश्यक है और मुझे मेरी सत्ता के परम 'सत्य' तक ले चलो। मुझे वही वस्तु दो जिसे 'तुम' अपने सर्वोच्च 'ज्ञान' के द्वारा मेरी आवश्यकता के रूप में देखते हो।"

और तब, उस हालत में, तुम निस्सन्दिग्ध हो सकते हो कि तुम ग़लत

माँग नहीं करोगे और 'वे' तुम्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं देंगे जो तुम्हें हानि पहुँचाये।

फिर इससे भी उच्चतर एक दूसरा उपाय है, परन्तु उससे प्रारम्भ करना कुछ अधिक कठिन है।

परन्तु उस मनोभाव की अपेक्षा यह पहला कहीं अधिक उचित उपाय है जिसमें मनुष्य भगवान् से कहता है : "मुझे इसकी आवश्यकता है। मुझे यह चीज़ दो।" क्योंकि सचमुच, बहुत थोड़े-से लोग ही वास्तव में यह जानते हैं कि उन्हें किस चीज़ की आवश्यकता है—बहुत ही थोड़े। और इस बात का प्रमाण यह है कि वे सर्वदा अपनी कामनाओं को सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं, जी-जान से, पूरी तरह इसी प्रयास में लगे रहते हैं, और हर बार जब उनकी एक कामना पूरी हो जाती है तो उनका मोह भंग हो जाता है और वे दूसरी कामना की ओर बढ़ जाते हैं।

और जब वे बहुत अधिक खोज कर चुकते हैं, बहुत अधिक भूलें कर चुकते हैं, काफी मात्रा में दुःख भोग चुकते हैं तथा बहुत निराश हो चुकते हैं तब उसके बाद, कभी-कभी, वे थोड़ा समझदार होना आरम्भ करते हैं और अपने-आपसे पूछते हैं कि क्या इस सबसे बाहर निकलने का, अर्थात् अपने निजी अज्ञान से बाहर निकलने का कोई पथ है या नहीं।

और फिर तभी, उसी मुहूर्त में मनुष्य इसे कर सकता है *(श्रीमाँ अपनी बाँहें फैलाती हैं)* : "मैं यह रहा, मुझे ग्रहण करो और मुझे सच्चे पथ पर ले चलो।"

उसके बाद सब कुछ ठीक तरह से चलना आरम्भ कर देता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४५, १४७-५०

दिव्य प्रेम और पूजा का पूर्ण कर्म

"यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजा के पूर्ण कर्म में तीन अवयव होते हैं जो एक ही अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्तियाँ होते हैं,—कर्म में भगवान् की क्रियात्मक पूजा, कर्म के बाह्य रूप में किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासा को या भगवान् के साथ के किसी सम्बन्ध को प्रकट करने वाला पूजा-प्रतीक, और तीसरा हृदय, अन्तरात्मा और आत्मा में एकत्व या एकत्वानुभूति के लिए आन्तरिक आराध्यभाव

और अतिस्पृहा।" ('योग-समन्वय')

मैं इसके पहले दो अंशों को अच्छी तरह नहीं समझ पाया।

कर्म का एक विशुद्ध भौतिक रूप, पूजा-पद्धतियों के उन रूपों के जैसा एक रूप होता है जिनमें कोई विशेष भाव-भंगिमा, कोई विशेष क्रिया पूजा-भाव को अभिव्यक्त करने के लिए व्यवहार में लायी जाती है। वह शुद्ध रूप में भौतिक होती है, उदाहरणार्थ, धूपबत्ती जलाना, पूजा-सामग्री को सजा कर रखना, यहाँ तक कि मन्दिर की देख-भाल करना, मूर्ति को सजाना इत्यादि विशुद्ध भौतिक कार्य।

दूसरा भाग होता है एक प्रकार का मानसिक पूजा-भाव जो कर्म को प्रतीक बना देता है। तब मनुष्य धूपबत्ती जलाने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि धूपबत्ती जलाते समय वह उसे प्रतीकात्मक बना देता है जो, उदाहरणार्थ, शरीर में जलती हुई अभीप्सा का अथवा आत्म-विलोपन के लिए, अग्नि के शुद्धीकरण के लिए किये गये आत्मदान का प्रतीक होता है। कहने का मतलब, पहले तो कर्म होता है, फिर इस कर्म का प्रतीक, और जो कुछ किया जाता है उसकी प्रतीकात्मक समझ होती है।

और अन्त में, इन दोनों के पीछे, एकत्व की अभीप्सा होती है; कि यह सब, ये कर्म तथा इनके साथ संयुक्त प्रतीक भगवान् के क्रमशः अधिकाधिक समीप जाने तथा अपने-आपको उनके साथ युक्त होने के उपयुक्त बनाने के साधन मात्र बनें।

इसलिए, कर्म को पूर्ण बनने के लिए ये तीन चीज़ें अवश्य होनी चाहियें : अर्थात्, कोई शुद्ध भौतिक वस्तु, कोई मानसिक वस्तु, और कोई चैत्य वस्तु, चैत्य अभीप्सा। यदि तीनों में से बाक़ी दोनों के बिना कोई एक वस्तु हो तो वह कर्म अपूर्ण होगा। सामान्यतया, बहुत विरल प्रसंगों में ही ये तीनों सचेतन रूप में संयुक्त होते हैं। ये चीज़ें उन्हीं लोगों में पायी जाती हैं जो अपनी सच्चाई और आत्मदान में असामान्य होते हैं। उन लोगों की सम्पूर्ण सत्ता, अपने सभी भागों में, उस कर्म में भाग लेती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २८३-८४

चैत्य अग्नि को प्रज्वलित रखना

मधुर माँ, श्रीअरविन्द लिखते हैं: "अपने अन्दर चैत्य अग्नि को प्रज्वलित रखना होगा जिसमें सब कुछ भगवान् के नाम के साथ होम कर दिया जाता है।" ('योग-समन्वय')

क्या चैत्य अग्नि सदा प्रज्वलित नहीं होती?

वह सर्वदा प्रज्वलित नहीं होती।

तो फिर उसे कैसे प्रज्वलित किया जाये?

अभीप्सा के द्वारा।

प्रगति करने के संकल्प के द्वारा, पूर्णता-प्राप्ति की उत्कण्ठा के द्वारा।

सबसे बढ़ कर, प्रगति करने का और अपने-आपको शुद्ध करने का संकल्प ही उस अग्नि को प्रज्वलित करता है। प्रगति का संकल्प। जिन लोगों में प्रबल संकल्प-शक्ति होती है, वे जब इसे आध्यात्मिक प्रगति और शुद्धि की ओर मोड़ते हैं तो उनके अन्दर वह अग्नि अपने-आप प्रज्वलित हो उठती है।

और प्रत्येक दोष को, जिसे तुम सुधारना चाहते हो या प्रत्येक प्रगति को जिसे तुम करना चाहते हो,—यदि उस सबको तुम अग्नि में झोंक देते हो तो वह एक नयी तीव्रता के साथ जल उठती है। यह कोई निरा रूपक नहीं है, यह सूक्ष्म-भौतिक जगत् का एक तथ्य है। तुम उस लौ की ऊष्मा को अनुभव कर सकते हो, तुम सूक्ष्म-भौतिक जगत् में उस लौ की ज्योति को देख सकते हो। और, जब तुम्हारी प्रकृति में कोई ऐसी चीज़ होती है जो तुम्हें आगे बढ़ने से रोकती है और तुम उसे उस अग्नि में होम कर देते हो तो वह जलना आरम्भ कर देती है और लौ अधिक तेज़ हो जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३०४

कठिनाई में भी माधुर्य और हर्ष अनुभव करना

"... भक्ति अपने-आपको कर्म में मूर्त रूप देकर न केवल अपने मार्ग को विशाल, समृद्ध और गतिशील बनाती है, बल्कि इस जगत् के अन्दर कर्मों के कठोरतर पथ में हर्ष तथा प्रेम का दिव्य रसमय

तत्त्व भी ले आती है जिसका प्रायः प्रारम्भ में अभाव होता है। क्योंकि आरम्भ में केवल तपोमय आध्यात्मिक संकल्प ही संघर्षमय उन्नयनकारी प्रयास के साथ एक सीधी चढ़ाई चढ़ता है और हृदय अभी तक या तो प्रसुप्त होता है या मूक रहने को बाध्य होता है। यदि दिव्य प्रेम की भावना प्रवेश पा सके तो पथ की कठोरता कम हो जायेगी, तनाव हलका हो जायेगा, कठिनाई तथा संघर्ष के गर्भ में भी माधुर्य एवं हर्ष उपस्थित होगा।" ('योग-समन्वय')

जब मनुष्य कठिनाई में होता है तो वह माधुर्य और हर्ष को कैसे अनुभव कर सकता है?

तभी, जब कठिनाई अहंकारिक या व्यक्तिगत होती है और यदि तुम उसे अर्पित कर देते हो तथा पवित्रीकरण की इस अग्नि में उसकी आहुति दे देते हो तो तुरन्त तुम प्रगति का आनन्द अनुभव करते हो। यदि तुम इसे सच्चाई के साथ करो तो तत्काल आनन्द का एक फ़व्वारा फूट पड़ता है।

स्पष्ट ही, यही चीज़ है जिसे हताश होने और रोने-धोने के बदले हमें करना चाहिये। यदि तुम इसे पूजा के रूप में चढ़ा दो और सच्चाई के साथ रूपान्तर और पवित्रीकरण के लिए अभीप्सा करो तो तुरत ही तुम अपने हृदय की गहराई में हर्ष के फ़व्वारे का अनुभव करोगे। यदि कठिनाई एक बहुत बड़ा दुःख हो फिर भी तुम यह कार्य बड़ी सफलता के साथ कर सकते हो। तब तुम अनुभव करोगे कि उस दुःख के पीछे, चाहे वह कितना भी कसक-भरा क्यों न हो, एक दिव्य आनन्द विद्यमान है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३०४-०५

अनन्त द्वारा चुना हुआ

माताजी, यहाँ कहा गया है: "जो 'अनन्त' को चुनता है वह 'अनन्त' द्वारा चुना हुआ होता है।" ('योग-समन्वय')

यह एक बड़ा ही सुन्दर वाक्य है!

और यह बिलकुल सच है। "थॉट्स ऐण्ड ग्लिम्प्सेज़" (विचार और

झाँकियाँ) में भी एक ऐसा ही वाक्य है जिसमें मेरा ख़याल है उन्होंने 'अनन्त' की जगह "भगवान्" शब्द का उपयोग किया है। लेकिन विचार एक ही है, यानी, भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है, ईश्वर ने तुम्हें चुन लिया है। इसी कारण तुम उनके पीछे दौड़ते हो!

और श्रीअरविन्द यही कहते हैं, है न, कि यही चीज़ उस तरह का विश्वास, वह यथार्थ निश्चिति देती है कि यह तुम्हारी पूर्वनियति है; और अगर यह तुम्हारी पूर्वनियति है तो भले कठिनाइयों के पहाड़ टूट पड़ें, उससे क्या होता है, क्योंकि तुम्हारी सफलता निश्चित है! यह बात कि तुम्हारी सफलता निश्चित है, तुम्हें कठिनाइयों का सामना करने के लिए अदम्य साहस और सभी परीक्षाओं का सामना करने के लिए धैर्य प्रदान करती है।

और यह तथ्य है—वस्तुतः, बात ऐसी है : जिस क्षण तुमने उसके बारे में सोचा, तो तुमने इसलिए सोचा क्योंकि किसी ने तुम्हारे बारे में सोचा था; तुमने चुना क्योंकि तुम चुने गये थे। और एक बार तुम चुन लिये जाओ, तो तुम उस चीज़ के बारे में निश्चिन्त रह सकते हो। अतः, सन्देह, हिचकिचाहट, अवसाद, अनिश्चितताएँ, ये सब समय और शक्ति की बरबादी हैं; इनका कोई भी उपयोग नहीं।

जिस क्षण से तुमने अपने अन्दर एक बार भी यह अनुभव किया : "ओह! मेरे लिए **यही** सत्य है", तो बस ख़तम; बात वहीं पर ख़तम, चीज़ तय हो गयी। तुम भले बरसों अछूते, घने जंगलों में रास्ता ढूँढ़ते रहो, उसका कोई महत्त्व नहीं, बात ख़तम हो चुकी है, तय हो चुकी है।

इसीलिए मैंने एक दिन तुमसे कहा था : "आख़िर, तुम सब यहाँ इसलिए हो क्योंकि कहीं पर तुमने इसे चाहा था; और अगर कहीं पर तुमने चाहा था, तो इसका मतलब है कि भगवान् ने तुम्हारे अन्दर ऐसा चाहा था।"

तो कुछ लोग ऐसे हैं जो बहुत सीधे रास्ते का अनुसरण करते हैं और बहुत जल्दी पहुँच जाते हैं; दूसरे ऐसे हैं जिन्हें भूल-भुलैया प्रिय है, उसमें ज़्यादा समय लगता है। लेकिन अन्तिम छोर तो है ही, लक्ष्य तो है ही। मैं अनुभव से जानती हूँ कि ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसके अन्दर, भले जीवन में एक ही बार क्यों न हो, भगवान् के लिए बहुत ज़बरदस्त माँग पैदा न हुई हो और उसका वहाँ तक पहुँचना निश्चित न हो... वह चाहे उसे कोई नाम दे ले, हम भाषा की सुविधा के लिए भगवान् कह रहे हैं;

वह भले किसी समय उनसे मुँह मोड़ ले, इसका कोई महत्त्व नहीं है—वह पहुँच अवश्य जायेगा। उसे कम या ज़्यादा संघर्ष करना होगा, उसे कम या ज़्यादा कठिनाई होगी, परन्तु एक दिन वह सफलता अवश्य पायेगा। उसकी अन्तरात्मा को चुना गया है, उसका मुहूर्त आ गया है इसलिए वह सचेतन हो गयी है और एक बार समय आ जाये, तो, परिणाम कम या ज़्यादा तेज़ी से आ जायेगा। तुम इसे कुछ महीनों में कर सकते हो; तुम इसे कुछ वर्षों में कर सकते हो; तुम इसे कुछ जन्मों में कर सकते हो —लेकिन तुम करोगे अवश्य।

और विलक्षण बात यह है कि चुनाव की यह स्वाधीनता तुम्हारे ऊपर छोड़ी गयी है, अगर तुम अपने अन्दर यह निश्चय कर लो कि तुम इसी जन्म में करोगे, तो तुम कर लोगे। और मैं यहाँ स्थायी और सतत निश्चय की बात नहीं कर रही क्योंकि वह तो बारह महीनों में ही परिणाम ला सकता है। नहीं, मेरा मतलब है : अगर अचानक यह चीज़ तुम्हें पकड़ ले : "मैं यह चाहता हूँ", चाहे एक बार ही, बिजली की कौंध की तरह ही क्यों न हो, तो मुहर लग जाती है, यूँ, इस तरह।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३७५-७७

बालक का अपनी माँ के प्रति प्रेम सहज तथा निरपेक्ष विश्वास से भरपूर होता है। इस तरह का प्रेम तुम्हारे अन्दर केवल चैत्य उद्घाटन के आधार पर ही हो सकता है, क्योंकि वस्तुतः इसी कारण चैत्य की तुलना बालक के साथ की जाती है। क्योंकि वह भगवान् के प्रति इस सहज तथा पूर्ण विश्वास का अनुभव करता है।

जब चैत्य पुरुष के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है तभी हृदय में ऐसा विचित्र भारीपन अनुभव होता है। यह उन चीज़ों का भारीपन होता है जो अभी तक प्रकृति में हैं और अन्तरात्मा के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त करने से रोकती हैं। यह भारीपन सदा आँखों में आँसू ले आता है; किन्तु, यदि शान्त और एकाग्र रहा जाये, समर्पण और निष्ठा की भावना के साथ अन्तर्मुखी रहा जाये, तो ये आँसू मीठे होते हैं, और स्वयं भारीपन भी मीठा होता है।

—श्रीमाँ

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

जुलाई

१. मुझे इसलिए पुकारो ताकि तुम जो कर रहे हो वह यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा हो, बड़प्पन दिखाने के लिए नहीं, बल्कि अच्छी तरह करने की ख़ुशी के लिए। और तुम उस चीज़ को निवेदन के रूप में करने के लिए भी मुझे पुकार सकते हो। और तब वह बहुत अच्छी होती है।

२. भूतकाल की लहरों को अपने पास से बह कर दूर चले जाने दो, वे समस्त आसक्तियों और दुर्बलताओं को बहा ले जायें। भागवत चेतना का आलोकमय आनन्द उनका स्थान लेने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है।

३. आत्म-समर्पण का संकल्प अपनी शक्ति द्वारा भगवान् और मनुष्य के बीच के परदे को धकेल देता है; वह प्रत्येक भूल को मिटा देता है और प्रत्येक बाधा को नष्ट कर देता है।

४. मैं न भक्त हूँ, न ज्ञानी और न प्रभु के लिए कार्यकर्ता हूँ; तब मैं क्या हूँ? अपने स्वामी के हाथों का उपकरण हूँ, दिव्य गोपाल द्वारा बजायी गयी बाँसुरी हूँ, प्रभु की साँस द्वारा उड़ाया गया वृक्ष का पत्ता हूँ।

५. तुम्हारे चारों ओर एक ऐसा तीव्र वातावरण होना चाहिये जो **पूरी तरह** भगवान् के प्रति समर्पित हो, वह इतना तीव्र हो कि जो कुछ वहाँ से गुज़रे वह स्वाभाविक रूप से शुद्ध होता जाये।

६. अपने ऊपर एकाग्र होने का अर्थ है क्षय और मृत्यु। भगवान् पर एकाग्रता ही जीवन, विकास और उपलब्धि लाती है।

७. हमारी वर्तमान आत्म-केन्द्रित स्थिति में जीने का अर्थ है, अज्ञान में जीना और कार्य करना। हम अपने बारे में अनभिज्ञ हैं क्योंकि हम अभी तक केवल उसी को जानते हैं जो हमारे अन्दर क्षण क्षण, घण्टे घण्टे, अवधि अवधि, जीवन जीवन में हमेशा बदलता रहता है; हम उसे नहीं जानते जो हमारे अन्दर शाश्वत है।

८. अपने-आपको दे दो—अपने-आपको पाने का यही सबसे अच्छा तरीक़ा है।

९. अपने अन्दर मुक्त होओ और इसी कारण अपने मन में मुक्त बन

जाओ, अपने जीवन और शरीर में मुक्त बनो क्योंकि आत्मा ही स्वाधीनता है।

१०. सब सत्ताओं के साथ और भगवान् के साथ एक हो जाओ, अपनी सत्ता में जिओ, अपने छोटे अहं में नहीं, क्योंकि आत्मा ही ऐक्य है।

११. यह तेरा कार्य है और यही तेरी सत्ता का लक्ष्य, यही वह है जिसके लिए तू यहाँ है—दिव्य अतिमानव बनना और भगवान् का पूर्ण पात्र बनना।

१२. तुम्हें अपने-आपको विशाल बनाना चाहिये, दरवाज़े खोलने चाहियें। उसके लिए सबसे अच्छा तरीक़ा है, अपने ऊपर एकाग्र होने की जगह तुम जो कुछ करते हो उसी पर एकाग्र होओ।

१३. प्रश्न : माताजी, "निष्कपट" निष्ठा का क्या अर्थ है?
उत्तर : निष्कपट? वह सरल, सच्ची और शंकारहित होती है। विशेष रूप से हम बच्चे की निष्कपटता की बात करते हैं, जिसकी निष्ठा सरल और शंकारहित होती है।

१४. सरल होना, सरल रूप में सद्भावनापूर्ण होना, अपनी तरफ़ से अच्छे-से-अच्छा और जहाँ तक हो सके श्रेष्ठ रूप से करना कितना अच्छा है; बहुत बड़े महल न बनाना, बल्कि केवल प्रगति, प्रकाश, सद्भावनापूर्ण शान्ति के लिए अभीप्सा करना और भगवान् को, जो जगत् में सब कुछ जानते हैं, उन्हें अपने लिए इस बात का निश्चय करने देना कि तुम क्या बनो और तुम्हें क्या करना होगा। तब तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रहती और तुम पूर्ण रूप से सुखी होते हो।

१५. अगर तुम भगवान् को सब कुछ दे दो, कुछ भी बचा कर न रखो तो तुम जो कुछ भी करो, जो कुछ सोचो, जो भी अनुभव करो, उस सबमें भगवान् हमेशा और हर क्षण पूरी तरह तुम्हारे साथ रहेंगे।

१६. सूर्य की ओर आँखें उठाओ; जीवन, प्रकाश और वैभव के उस हृदय में भगवान् उपस्थित हैं।

१७. रात के समय निश्चल-नीरवता में अनगिनत नक्षत्र-समूह शाश्वत की पहरुआ आग के रूप में चमक रहे हैं। यह नीरवता शून्य नहीं है बल्कि शान्त, एकाकी अस्तित्व की उपस्थिति से स्पन्दित है।

१८. धरती पर वापस आ जाओ और सोचो कि 'वह' उपस्थिति कौन है।

वह तुम्हारे बिलकुल पास है। देखो, तुम्हारे सामने से लकड़ी लिये, झुकी कमर और मुड़े घुटनोंवाला वृद्ध गुज़र रहा है। क्या तुम समझ पाते हो कि 'भगवान्' जा रहे हैं? उधर एक बालक सूर्य के प्रकाश में अट्टहास करता हुआ दौड़ रहा है। उस अट्टहास में 'भगवान्' को सुन पाते हो? न, वे उससे भी अधिक तुम्हारे समीप हैं। वे तुम्हारे अन्दर उपस्थित हैं। तुम 'वही' हो।

१९. अपने हृदय में एकाग्र होओ। उसमें प्रवेश करो, अन्दर गहरे और दूर चले जाओ, जितनी दूर जा सको, जाओ। चारों ओर बिखरे हुए चेतना के धागों को एकत्र करो, उन्हें लपेट लो और छलाँग मार कर नीचे उतरो। हृदय की गहरी निस्तब्धता में एक अग्नि जल रही है। यही तुम्हारी दिव्यता है—तुम्हारी सच्ची सत्ता। उसकी आवाज़ सुनो, उसके आदेश का पालन करो।

२०. वैश्व आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा एक ही हैं। हर लोक में, प्रत्येक सत्ता में, प्रत्येक वस्तु में और अणु में दिव्य उपस्थिति विद्यमान है और उसे पाना मनुष्य का कर्तव्य है।

२१. हम सबको एक भूमिका निभानी है, एक कार्य करना है। हमारा एक स्थान है जहाँ हम ही निवास कर सकते हैं।

चूँकि यह कार्य हमारी सत्ता की अन्तरतम गहराई की बाह्य अभिव्यक्ति है, उसके निश्चित रूप के बारे में हम तभी सचेतन हो सकते हैं जब हम अपने अन्दर की इस गहराई के बारे में सचेतन हो जायें।

२२. कोई चीज़ भागवत चेतना के साथ एक होने से बढ़ कर सुन्दर नहीं है। तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे—यदि तुम पूरी सच्चाई के साथ खोजो, क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अन्दर ही है। आख़िर यह बहुत सरल है, हमें केवल वही बनना है जो हम अपनी सत्ता की गहराइयों में हैं।

२३. अपनी आन्तरिक सत्ता में इस 'एकमेव' को देखना, जानना, वह बन जाना, उसे अपनी बाह्य प्रकृति में चरितार्थ करना, यही हमेशा हमारा गुप्त लक्ष्य रहा है और अब यही हमारे शरीरस्थ अस्तित्व का सचेतन उद्देश्य बन जाता है।

२४. भगवान् के बारे में अपनी सत्ता के सभी भागों में सचेतन होना और

साथ ही जिन्हें हमारा विभाजनकारी मन हमारी सत्ता के बाहर देखता है उनमें भी सचेतन होना—यही व्यक्तिगत चेतना की निष्पत्ति है।

२५. भक्ति तब तक पूरी तरह चरितार्थ नहीं होती जब तक वह कार्य और ज्ञान नहीं बन जाती।

सम्पूर्ण समर्पण तभी होता है जब सम्पूर्ण प्रेम और भक्ति हों।

२६. ॐ श्रीअरविन्द मीरा।

अपने प्रकाश, अपने प्रेम और अपनी शक्ति के प्रति मेरे मन का उद्‌घाटन कर दो। वर दो कि मैं सब चीज़ों में भगवान् को देखूँ।

२७. तुम्हारा शरीर और इन्द्रियाँ तक भगवान् की उल्लसित संवेदना और उनका शरीर बनें। अपनी समस्त शक्ति से भगवान् की पूजा-अर्चना करो और उन्हें आहुति दो। प्रत्येक विचार और भाव में, प्रत्येक आवेग और कार्य में उनका स्मरण करो।

२८. साधारण अर्थ में गोपियाँ सामान्य व्यक्ति न थीं। वे आध्यात्मिक आवेग की, जो उनके तीव्र प्रेम के कारण असाधारण बन गया था, व्यक्तिगत भक्ति और अबाध समर्पण की साकार मूर्ति थीं। जिसके पास यह सब है, उसका स्थान अन्य क्षेत्र में चाहे जितना नगण्य क्यों न हो (ज्ञान, अभिव्यक्ति की क्षमता, विद्वत्ता, बाह्य शुचिता) वह आसानी से कृष्ण का अनुसरण कर पायेगा और उन तक पहुँच सकेगा।

२९. अपने भावों को भगवान् की ओर मोड़ दो। उनकी शुद्धि के लिए अभीप्सा करो। तब वे तुम्हारे मार्ग में सहायक होंगे और दुःख का कारण न बने रहेंगे।

उन्हें भगवान् की ओर मोड़ना योग का सच्चा उपाय है।

३०. दिव्य जीवन बिताना किन्हीं बाहरी कार्यों या परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होता, भले ही बड़े-से-बड़े कार्य से लेकर साधारण-से-साधारण कार्य तक तुम कुछ भी क्यों न करो; यदि तुम सच्ची चेतना में रहो और तुम्हारा मनोभाव सही हो तो तुम दिव्य जीवन बिता सकते हो।

३१. भगवान् को खोजने वाले हर एक के लिए कठिनाइयाँ विद्यमान रहती हैं। कोई भी सहज मार्ग की आशा नहीं कर सकता; किन्तु हाँ, **विजय निश्चित है**—और यह निश्चिति सहने की शक्ति देती है।

भगवान् की शान्ति सदा तुम्हारे साथ रहे।

हमारी सत्ता की वीणा एकस्वर में बज उठे

(गतांक से आगे)

कहा जाता है कि योगी को सदा जागते रहना चाहिये। जो जागते रहते हैं वे धोखा नहीं खा सकते, खल उन्हें छल नहीं सकते। इसीलिए सदा-सर्वदा सचेतन रहने के लिए हमसे कहा जाता है—जो कुछ करें सचेतन होकर करें, योगयुक्त होकर करें। यही पूर्णयोग का मूलमन्त्र है।

किसी काम को करते हुए हमें जानना चाहिये कि हम उसे क्यों करते हैं, कौन उसे करने के लिए हमें प्रेरित कर रहा है। साधारण मनुष्य बहुत कम अंश में स्वतन्त्र और सचेतन रहता है। यन्त्रवत् वह विवश होकर कार्य किये जाता है पर सोचता यह है कि वही उसका प्रेरक और प्रभु है। यही उसका भ्रम है। अहंकार के वशीभूत होकर ही वह ऐसा सोचता और समझता है। उसकी दशा ठीक उस मिट्टी के लोंदे की तरह है जो चाक पर कुम्हार के द्वारा घुमाया जाता है—वह असहाय-सा विवश होकर घूमता है पर सोचता यह है कि वही उसे घुमा रहा है। जूए में जुते बैल की-सी दशा से हमारा परित्राण तभी हो सकता है जब हम सचेतन हों, अपने-आपको जानें, अपने-आप पर प्रभुत्व प्राप्त करें। अपने-आपको जानने का अर्थ यह है कि हम जो भी कार्य करें उसके विषय में हम यह जानें कि अमुक कार्य हम क्यों और कैसे करते हैं। वह कहाँ से आ रहा है, कौन उसकी प्रेरणा दे रहा है। अपने-आप पर प्रभुत्व प्राप्त करने का अर्थ यह है कि हमारा मन ऐसा बलवान् हो जाये कि हम जो करने का निश्चय कर लें वही करें, कोई शक्ति हमें उससे विचलित न कर सके और जो हम न चाहें उसे करने के लिए कोई हमें बाध्य न कर सके। प्रत्येक साधक के लिए यह वह सम्पदा है जिसका मूल्य आँका नहीं जा सकता।

मन को मार कर उच्च चेतना में जाकर लीन हो जाना—जो राजयोग का परम पुरुषार्थ है—अपेक्षाकृत सहज है; पर उस दिव्य चेतना, दिव्य शान्ति, दिव्य आनन्द को उतारना और उतार कर मन-प्राण-शरीर में प्रतिष्ठित करना आसान बात नहीं, और न सर्वांगीण समर्पण ही आसान है।

मन अपने पुराने विचार, चित्त अपनी पुरानी भावनाएँ, प्राण अपनी भोगगत वासनाएँ, शरीर अपनी जड़ता आदि छोड़ने के लिए आसानी से राज़ी नहीं हो सकते; हर एक अपने-अपने स्थान पर अपनी अभ्यस्त गतियों के साथ जमे रहने के लिए जी-जान से लड़ता है, यहाँ तक कि बड़ी चेष्टा करने के बाद निकाल दिये जाने पर भी मौक़ा पाते ही फिर चढ़ाई कर बैठता है और अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए कुछ उठा नहीं रखता। इसलिए 'क्राइस्ट' कहा करते थे, शैतान को पूर्ण रूप से निकाल कर चैन लो; यदि तुममें ज़रा-सा भी अन्धकार रह गया और शैतान को घुसने के लिए कोई छिद्र मिल गया तो वह अपने और सातों साथियों के लिए भी तुम्हारे अन्दर कपाट खोल देगा और तुम्हारी सुधरी हुई दशा को पहले से भी ज़्यादा शोचनीय बना देगा। इन्हें व्यक्तिगत रूप से निकाल देने पर भी इनसे पिण्ड नहीं छूटता, क्योंकि अविद्या शक्ति से, जिसके प्रतिनिधि-रूप में ये हमारे अन्दर निवास करते हैं, दुगुना बल प्राप्त कर ये पुनः लौटते हैं और साधक को इनसे उस समय तक युद्ध करना पड़ता है जब तक उसका कोई भी अंग समर्पण करने से छूटा रह जाता है। इस प्रकार युद्ध करते-करते साधक घबरा जाता है, उसे इस युद्ध का अन्त होता हुआ ही नहीं दीखता। पर हमें वास्तव में घबराना नहीं चाहिये, इस कार्य में समय लगता देख हताश नहीं होना चाहिये, बल्कि इस योग के मूल सिद्धान्त—आत्म-समर्पण को दृढ़ता से पकड़े रहना चाहिये, माँ से चिपके रहना चाहिये। प्रत्येक क्षण हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि हमारा कोई अंग अशुद्ध रह जायेगा, अन्धकार को छिप कर बैठने के लिए इस शरीर के अन्दर कहीं स्थान मिल जायेगा तो हमारा जीवन किसी अवस्था में भी पूर्ण नहीं हो सकता, सदा अस्थिर बना रहेगा। मन में सदा स्मरण रखना होगा कि हमने आत्म-समर्पण किया है, कोयले को भी हीरा बनाने-जैसा, दानव को देवता बनाने-जैसा कार्य हमारे अन्दर चल रहा है। जीवन के विष को रूपान्तरित करने के लिए हम पर हथौड़े की कितनी ही चोटें क्यों न पड़ें, हम कोल्हू में ही क्यों न पेल दिये जायें, हम सब कुछ सहते जायेंगे। हमने अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण कर दिया है। यह शरीर अब उसका है, उसकी इच्छा हो इसे रखे या नष्ट कर दे। शरणागति की हमसे माँग है कि चाहे हमारे पग आगे बढ़ें या पीछे

हटें या अटके रह जायें, पर हम चूँ तक न करें, सदा सहर्ष लगन के साथ साधना में लगे रहें। झञ्झा और उल्कापात में भी जो विश्वास का दीपक जलाये बैठा रहेगा, सफलता एक दिन उसके पग अवश्य चूमेगी।

कोई माँग पेश करने के बदले, हमसे बार-बार कहा जाता है कि पहले योग्य बनो, नख-शिख से सच्चे बनो। केवल वचन से सच्चा बनना पर्याप्त नहीं है। सच्चे होने का अर्थ यह है कि हमारे मन का प्रत्येक भाग, प्राणों का प्रत्येक तार, शरीर के अंग-प्रत्यंग, जैसे सूर्यमुखी फूल सूर्य की ओर सतत मुख किये रहता है वैसे ही सब, एकमात्र भगवान् की ओर मुख मोड़े रहें। प्रतिक्षण, प्रतिपल भगवान् को ही चाहें, उसे ही माँगें। भगवान् को छोड़ न किसी के प्रभुत्व को स्वीकार करें, न प्रभाव में आयें। यदि हमारी सारी सत्ता की वीणा आज एकस्वर में बज उठे, पूर्णतया निवेदित हो जाये, तो आज हमारा घड़ा अमृत से पूर्ण हो जाये, आज हमारा घर दैवी वैभव से भर जाये।

(क्रमशः) —स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

प्राणों के प्राण

हे प्राणों के प्राण!
मैं अपनी देह को निर्मल रखूँगा,
क्योंकि मेरे अंग-अंग पर तेरा स्पर्श है।
अपने विचारों को असत्य से
धूमिल न होने दूँगा,
क्योंकि तूने सत्य के दीपक से
मेरे विवेक को प्रकाशित किया है।
मैं अपने हृदय में, पापों का प्रवेश न होने दूँगा,
क्योंकि हे प्रभो!
यहाँ तेरी मूर्ति प्रतिस्थापित है।
मेरे सब कार्यों में तेरी ही अभिव्यक्ति होगी,
तेरी ही प्रेरणा होगी।

'मधु-सञ्चय' से साभार —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक साधिका के नाम पत्र

एक ऐसा क्षण आता है जब भागवत उपस्थिति के बिना जीवन असह्य हो उठता है। अतः, अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो तो तुम 'प्रकाश' में उठ आओगी।

१७ दिसम्बर १९७१

भगवान् के साथ सचेतन सायुज्य का एक क्षण सारे प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न कर सकता है चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो।

१८ दिसम्बर १९७१

नीरवता में अधिकतम ग्रहणशीलता रहती है और निश्चल-नीरवता में बड़े-से-बड़ा कार्य किया जाता है।

आओ, हम नीरव होना सीखें ताकि प्रभु हमारा उपयोग कर सकें।

१९ दिसम्बर १९७१

जब हम अपनी चेतना से समस्त पराजयवाद को निकाल फेंकेंगे तब हम सिद्धि की दिशा में एक बहुत बड़ी छलाँग लगायेंगे।

'भागवत कृपा' में अपनी श्रद्धा को पूर्ण करके हम अवचेतना के पराजयवाद पर विजय पा सकेंगे।

२० दिसम्बर १९७१

भौतिक जगत् के दुःख-दैन्य को समाप्त करने के लिए, जो अवचेतन निराशावाद का कारण हैं, भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही अनन्य उपाय हैं। केवल भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य में ही चेतना का शाश्वत आनन्द में आविर्भाव हो सकता है। और यह सचेतन ऐक्य ही पार्थिव जीवन का सच्चा लक्ष्य है।

२१ दिसम्बर १९७१

यह जानना कि हम क्यों जीते हैं : भगवान् की खोज और उनके साथ

सचेतन सायुज्य के लिए।

एकमात्र इसी उपलब्धि पर एकाग्र होने की अभीप्सा करना।

सभी परिस्थितियों को इस लक्ष्य तक पहुँचने के साधन में रूपान्तरित करना जानना। २२ दिसम्बर १९७१

प्रार्थना

प्रभो, मेरे अन्दर तुम्हें जानने की तीव्र इच्छा जागे।

मैं अपना जीवन तुम्हारी सेवा के लिए अर्पित करने की अभीप्सा करती हूँ। २४ दिसम्बर १९७१

अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो अच्छी-से-अच्छी चीज़ हम कर सकते हैं वह है, अपने अन्दर के समस्त अहंकार पर विजय पाना और इस रूपान्तर के लिए सतत प्रयास करना। मानव अहं इस कारण अपदस्थ होने से इन्कार करता है कि और लोग रूपान्तरित नहीं हुए हैं। लेकिन वही दुर्भावना का गढ़ है, क्योंकि हर एक का कर्तव्य है कि और लोग क्या करते हैं उसकी परवाह किये बिना अपने-आपको रूपान्तरित करना।

अगर लोग जानें कि यह रूपान्तर, अहंकार का लोप ही सतत शान्ति और आनन्द का एकमात्र मार्ग है तो वे आवश्यक प्रयास करने के लिए तैयार हो जायेंगे। अतः, उनके अन्दर यह विश्वास जगाना चाहिये।

हर एक से बार-बार कहना चाहिये : अपने अहंकार को लुप्त कर दो तो तुम्हारे अन्दर शान्ति का राज्य होगा।

भगवान् की सहायता हमेशा सच्ची अभीप्सा को उत्तर देती है।

२५ दिसम्बर १९७१

मनुष्य अपने जीवन में जैसा मनोभाव अपनाते हैं उसके अनुसार उन्हें चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१. वे जो स्वयं अपने लिए जीते हैं। वे हर चीज़ के बारे में अपने सम्बन्ध में ही सोचते हैं और उसी के अनुसार कार्य करते हैं। मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या इसी तरह की है।

२. ऐसे लोग जो अपना प्रेम किसी और मनुष्य को देते और उसी के लिए जीते हैं। परिणाम-स्वरूप हर चीज़ स्वभावतः उस व्यक्ति पर निर्भर होती है जिसे प्रेम के लिए चुना जाता है।

३. ऐसे लोग जो अपना जीवन मानवजाति की सेवा के लिए अर्पित करते हैं—मानवजाति की किसी ऐसी सेवा द्वारा जो निजी सन्तोष के लिए न होकर, बिना हिसाब-किताब के और कार्य से किसी निजी लाभ की आशा किये बिना, सचमुच दूसरों के लिए उपयोगी हो।

४. ऐसे लोग जो अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को दे देते हैं और केवल उन्हीं के लिए और उन्हीं के द्वारा जीते हैं। इसका मतलब होता है, भगवान् को पाने के लिए आवश्यक प्रयास करना, उनकी इच्छा के बारे में सचेतन होना और ऐकान्तिक रूप से उनकी सेवा के लिए कार्य करना।

पहली तीन श्रेणियों में व्यक्ति स्वभावतः दुःख-दैन्य और निराशा के सामान्य नियम के आधीन होता है।

केवल अन्तिम वर्ग में—अगर व्यक्ति उसे पूरी सच्चाई के साथ चुने और अखूट धीरज के साथ उसके पीछे लगा रहे—तो वह पूर्ण परिपूर्ति और सतत प्रकाशमान शान्ति की निश्चिति पाता है।

२६ दिसम्बर १९७१

सुखी होने के लिए मत जियो, भगवान् की सेवा करने के लिए जियो। तब तुम जो सुख भोगोगे वह सभी आशाओं से बढ़ कर होगा।

२८ दिसम्बर १९७१

हम पृथ्वी के इतिहास के एक निर्णायक मुहूर्त में हैं। वह अतिमानव के आने की तैयारी कर रहा है और इस कारण जीवन की प्राचीन पद्धति अपना मूल्य खोती जा रही है। हमें इसकी नयी माँगों के बावजूद साहस के साथ भविष्य के मार्ग पर आगे बढ़ते चलना है। जो तुच्छताएँ एक समय सही जा सकती थीं वे अब नहीं सही जा सकतीं। जो आने वाला है उसे ग्रहण करने के लिए हमें अपने-आपको विस्तृत करना चाहिये।

२९ दिसम्बर १९७१

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४७७-८०

दिव्य शरीर में दिव्य जीवन

('भाईजी' के नाम से सारे आश्रम में सुपरिचित श्री नवजात जी की किताब 'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' बहुत ही सुन्दर किताब है जिसमें भाईजी ने दैनिक जीवन में पूर्णयोग करने का रास्ता सुझाया है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी ख़ासियत तो यह है कि यह भगवान् के प्रति अभीप्सा की आग सुलगा देती है।

सचमुच यह पुस्तक यहाँ-वहाँ दिये उनके भाषणों का संकलन है, इसलिए इसमें पुनरावृत्तियाँ भी हैं।

इस अंक से हम इसे यथासम्भव क्रमिक रूप में देने का प्रयास करेंगे। —सं.)

माताजी और श्रीअरविन्द की दिव्य दृष्टि अनोखी है। उन्होंने कहा है कि हम यहाँ उसी को दोहराने के लिए नहीं आये हैं जिसे और लोग कर चुके हैं। एक बार ऋषि विश्वामित्र की गाथा सुनाते हुए श्रीअरविन्द ने कहा था कि अतीत में महान् कार्य हुए हैं, परन्तु वे भविष्य की ज़्यादा बड़ी उपलब्धियों के आगे फीके पड़ जायेंगे। यदि हम श्रीअरविन्द के योग में सफल होना चाहें, जो बहुत ही कठिन और श्रमसाध्य काम है, तो हमें अपने सारे प्रयासों का केन्द्र बनाना होगा, *दिव्य शरीर में दिव्य जीवन*। हम श्रीअरविन्द के विचार को समझने की कोशिश करेंगे, उसे प्राप्त करने की क्या विधि है और अड़चनों को कैसे जीता जा सकता है।

हमारे पुराणों में एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण दिया गया है, वह है हनुमान का। वे रामेश्वरम् से छलाँग मार कर लंका जा पहुँचे थे। वे हिमालय का एक अंश लाने के लिए सारी रात उड़े थे। क्या ऐसी बातें सम्भव हैं या केवल कल्पनाएँ हैं? श्रीअरविन्द और वाल्मीकि का अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ये चीज़ें सम्भव हैं और हनुमान ने ऐसा ज़रूर किया होगा। मैं आपको यह उदाहरण इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि माताजी और श्रीअरविन्द ने जिस दिव्य शरीर की बात कही है वह शरीर वह सब कर सकेगा जो हनुमान ने किया था।

हर एक देवता भगवान् के किसी विशेष पक्ष का प्रतिनिधि होता है और श्रीअरविन्द चाहते हैं कि हम भगवान् के हर पक्ष का प्रतिनिधित्व कर

सकें। यदि हम माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रन्थों को पढ़ें तो यह लगभग परियों की कहानियाँ पढ़ने जैसा होगा। यदि हम दिव्य शरीर के विभिन्न पक्षों को समझ सकें तो हम यह जान पायेंगे कि यह कैसे सम्भव हो सकता है।

माताजी और श्रीअरविन्द ने कहा है कि नूतन शरीर के चार पक्ष होंगे। पहले तो वह ज्योतिर्मय होगा, (यहाँ मैं चरम अवस्था की बात कह रहा हूँ, बीच की अवस्थाओं की बात हम कभी बाद में करेंगे) उसमें रक्त, त्वचा या हड्डियाँ न होंगी। बहुत-से अंग लुप्त हो जायेंगे क्योंकि उनकी ज़रूरत न रहेगी और शक्तियों के केन्द्र बनने के लिए बहुत-से चक्र खुल जायेंगे। उदाहरण के लिए, बोलने की ज़रूरत न होगी, जो कुछ सञ्चारित होना है वह तुम्हारे द्वारा हो जायेगा। वह एक ज्योति का शरीर होगा जिसे खाने-पीने वगैरह की ज़रूरत न होगी। क्या आज आधुनिक काल में हम इससे बड़ी खोज की कल्पना कर सकते हैं? आज इस रोग और उस रोग के बारे में खोज करने पर करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं, परन्तु श्रीअरविन्द उन सभी खोजों के परे जाते हैं जिनके बारे में मनुष्य सोच सकता है और हमें मानव प्रयास के चरम बिन्दु तक पहुँचा देते हैं। हाँ, तो श्रीअरविन्द के कथनानुसार नूतन शरीर का एक पक्ष होगा दीप्ति।

एक और पक्ष होगा हलकापन। वह उड़ सकेगा। माताजी ने एक बड़ा मज़ेदार उदाहरण दिया है कि कभी-कभी तुम स्वप्न में अपने-आपको उड़ते हुए देखते हो। तुम दाहिने कन्धे से ज़रा-सा धक्का देते हो और दाईं ओर उड़ जाते हो, बाईं ओर से धक्का देते हो और बाईं ओर उड़ जाते हो, तुम अपने पैरों से धक्का देते हो और बहुत ऊपर उड़ जाते हो। उनका कहना है कि यह सब दिव्य शरीर के साथ हो सकता है। जो चीज़ें भौतिक शरीर नहीं कर सकता वे दिव्य शरीर में सम्भव होंगी।

तीसरा गुण होगा लचीलापन या सुनम्यता। उसे यदि गोली भी मारी जाये तो उसे चोट न लगेगी, उसे कोई नुकसान न पहुँचेगा क्योंकि शरीर गोली को आर-पार हो जाने देगा।

चौथा गुण होगा अनुकूलता। उसे एक छोटे-से मर्तबान में भी रखा जा सकता है जहाँ वह समा जायेगा और फिर हनुमान की तरह वह पाँच सौ फ़ुट का भी हो सकता है। वह आवश्यकता और अवसर के अनुकूल बड़ा-छोटा हो सकेगा।

तो दिव्य शरीर के चार मुख्य गुण होंगे—दीप्ति, हलकापन, लचीलापन और अनुकूलता। किसी ने माताजी से पूछा, "क्या इस शरीर को साधारण मनुष्य भी देख सकेगा या केवल योगी ही उसको देख सकेंगे?" माताजी ने कहा कि एक सड़क पर चलने वाला भी इसे देख सकेगा। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि यह शरीर अलग-अलग बारह स्थानों पर भी प्रक्षिप्त हो सकेगा। तुम अमरीका में कुछ काम करते हुए दिखायी दोगे तो चन्द्रमा पर कुछ और काम और हिन्दुस्तान में कुछ तीसरा ही काम। यह शरीर एक ही समय पर अनेक स्थानों पर दिखायी दे सकता है। इससे आप समझ सकते हैं कि दिव्य शरीर से माताजी और श्रीअरविन्द का क्या मतलब है। देवताओं के शरीर ज्योतिर्मय होते हैं। तब ऐसा लगेगा मानों देवता पृथ्वी पर आ बसे हैं। श्रीअरविन्द ने तो यहाँ तक कहा है कि शिव ने वचन दिया है कि जब अतिमानसिक रूपान्तर सिद्ध हो जायेगा तो वे धरती पर अतिमानसिक शरीर में प्रकट होंगे। मनुष्य ने आज तक जो ऊँचे-से-ऊँचे स्वप्न देखे हैं, श्रीअरविन्द की दृष्टि उनकी पूर्ति करेगी, वह हमारे सभी मानसिक और आध्यात्मिक स्वप्नों की पूर्ति करेगी।

अभी इस संसार में अतिमानसिक द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। यह एक नयी ही सृष्टि होगी। एक बार वह द्रव्य बन जाये तो दो प्रकार की सत्ताएँ होंगी—अतिमानव और अतिमानसिक सत्ता। माताजी और श्रीअरविन्द ने इन दोनों में एक फ़र्क बतलाया है। अतिमानव वह व्यक्ति होगा जो वर्तमान भौतिक शरीर से भागवत शरीर में विकसित होगा। अतिमानसिक सत्ता वह सत्ता होगी जो भौतिक जन्म की प्रक्रिया के बिना सीधा दिव्य शरीर धारण करेगी और उसमें कोई पाशविकता न होगी। अतिमानसिक सत्ताएँ एक नया सामुदायिक जीवन बनायेंगी और एक नये समाज का निर्माण करेंगी जिसे श्रीअरविन्द दैवी समाज कहते हैं। क्या आप पृथ्वी पर ऐसे लोगों की कल्पना कर सकते हैं जिनके शरीर प्रकाश के हों, जिन्हें खाने-पीने और पोषण की ज़रूरत न हो, जो उड़ सकते हों, अपने-आपको विभिन्न क्षेत्रों में प्रक्षिप्त कर सकते हों। और जब चाहें अपने स्थान पर वापिस आ सकते हों। और ये शरीर रोग, क्षति, जरा, मृत्यु के शिकार न होंगे।

श्रीअरविन्द हमें इस दिव्य सृष्टि के बारे में आशा दिलाते हैं और माताजी कहती हैं कि अब उसे चरितार्थ करने का समय आ गया है। उनका कहना

है कि अतिमानस चेतना सूक्ष्म भौतिक के स्तर तक उतर आयी है, लेकिन भौतिक चेतना को उसे अनुभव करना चाहिये, जड़-भौतिक शरीर को उसे चरितार्थ कर सकना चाहिये। उसकी उपलब्धि के बाद मनुष्य को जन्म लेने, बढ़ने, बूढ़े होने या मरने की ज़रूरत न रहेगी। जैसा कि मैंने कहा, वह सीधा अतिमानसिक शरीर धारण करेगा, जगत् में घण्टे, दो घण्टे के लिए या सैकड़ों वर्षों के लिए काम करेगा और अपनी इच्छा के अनुसार शरीर त्याग देगा। यह एकदम नयी तरह की सृष्टि होगी। भाग्यवान् हैं हम कि विकास में ऐसे बिन्दु तक आ पहुँचे हैं जहाँ हम उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अभीप्सा कर रहे हैं।

माताजी से पूछा गया था कि ऐसी सृष्टि को शरीर धारण करने में अभी और कितना समय लगेगा? उन्होंने कहा, "तीन सौ वर्ष।" लोग आश्चर्यचकित हो गये कि आदमी तीन सौ वर्ष तक कैसे रह सकता है! अगर रुग्ण, क्षीण, वृद्ध शरीर के साथ आयु बढ़ती जाये तो उसमें जीना बहुत सुखद न होगा। माताजी ने एक सुन्दर उत्तर दिया, "तुम्हें जानना चाहिये कि परिवर्तन होगा। वही शरीर नहीं बना रहेगा। तुम्हें जानना चाहिये कि पूर्ण परिवर्तन आने से पहले, शरीर में परिवर्तन शुरू हो जायेगा।" आपमें से जिन लोगों का अतिमानस के साथ ज़रा भी सम्बन्ध होगा वे अपने जीवन में परिवर्तन का अनुभव करेंगे और अगर अनुभव न हो तो हमारे अन्दर ज़रूर कोई त्रुटि है, कहीं पर हमने उस खिड़की को बन्द कर दिया है जिसके द्वारा माताजी सबके भले के लिए अवतरण को नीचे लायी हैं। वे अतिमानस की गंगा को उतार लायी हैं और हम उसके जल का पान किये बिना उसके किनारे खड़े हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। जानने-योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक बार अतिमानसिक चेतना हमारे शरीर को छू ले तो हमारा शरीर स्वस्थ रह सकेगा और हमारा आयुष्य लम्बा हो सकेगा, पर आयुष्य को लम्बा कैसे किया जा सकता है? जब हम साधना के प्रकरण में आयेंगे तो इस विषय पर बातचीत कर सकेंगे।

तो अभी मैं माताजी की तीन सौ वर्ष जीने की बात पर लौटता हूँ। जब हमारी छोटी-सी मानवजाति एक ही शरीर के साथ तीन सौ वर्ष जीने की बात करती है तो तुम कहते हो, "मैं अभी पचास का हूँ और मेरा शरीर अभी से विकृत हो चला है, तो तीन सौ वर्ष तक तो यह भयंकर

चीज़ बन जायेगा!" नहीं, बात ऐसी नहीं है; पर तीन सौ वर्ष ऐसे होंगे जिनमें शरीर अपने-आपको पूर्ण करता जायेगा। तो हमें अपने शरीर को पूर्ण करते जाना होगा। यह कैसे किया जाये? तीन सौ वर्ष होने तक शायद तुम कहो कि मैं जो करना चाहता हूँ उसे पूरा करने के लिए अभी और तीन सौ या चार सौ वर्ष चाहियें। अगर तुम भगवान् को उनके सभी रूपों में प्रकट करना चाहो तो और तीन सौ वर्षों का कोई मूल्य नहीं है। तुमको यह न भूलना चाहिये कि अगर तुम अभी अपने शरीर को त्याग दो तो तुमको कुछ और सैकड़ों वर्षों के बाद भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेना होगा और चूँकि तुमने इस जन्म में काफ़ी प्रगति नहीं कर ली इसलिए तब तुमको ज़्यादा कठिनाई का अनुभव होगा।

माताजी कहती हैं कि इस जन्म में प्रगति न केवल तुम्हारी सहायता करेगी बल्कि **इसी** जन्म में सिद्धि पाने में भी सहायक होगी। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगर हर बढ़ता हुआ वर्ष एक प्रगति को, रूपान्तर को निरूपित करता है तो क्या तुम इस काम में अधिकाधिक वर्ष न लगाना चाहोगे ताकि तुम अपने-आपको अधिकाधिक रूपान्तरित कर सको? इसलिए तुमको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि तुम हर वर्ष प्रगति कर रहे हो, हर वर्ष रूपान्तरित हो रहे हो और हर वर्ष परख करने के लिए तुमको हर रोज़, और हर रोज़ परख करने के लिए तुमको हर क्षण परख करनी चाहिये। तुमको अपने दिन की योजना बहुत सावधानी से बनानी चाहिये। जब कोई चीज़, उदाहरण के लिए लोच, हलकापन, लचीलापन, दीप्ति उतनी पूर्ण न हों जितना कि तुम चाहते हो तो क्या तुम उसे पूर्ण करने के लिए और दो सौ वर्ष न चाहोगे? तुमको उदास होकर यह न सोचना चाहिये कि आह, इसमें और दो सौ वर्ष लगेंगे! काम ठीक तरह होने के लिए और दो सौ वर्षों की ज़रूरत तो होगी ही। इसके विपरीत, यह सोचना चाहिये कि कम-से-कम दो सौ वर्ष तो चाहियें ही। जब सब कुछ हो जाये, सब पूरा हो जाये तब वर्षों का सवाल ही नहीं आता, क्योंकि तब तुम अमर हो जाते हो। माताजी और श्रीअरविन्द के लिए प्रश्न भौतिक अमरता का है। यह वह उच्चतम आदर्श है जो तुम अपने और अपने बालकों के सामने रख सकते हो।

(क्रमशः)

—नवजात जी

चन्दरी बुआ

राजस्थान में पुराने ज़माने में ऐसी प्रथा थी कि एक ही गाँव में शादी-ब्याह नहीं होते थे। लड़की को दूसरे गाँव में देते और दूसरे गाँव की लड़की को बहू बना कर लाते थे। यहाँ तक होता था कि अगर किसी गाँव में बारात आती तो वर-पक्ष के गाँव की जितनी भी लड़कियाँ वहाँ ब्याही हुई होतीं, सबको मिठाइयाँ भेजी जाती थीं।

अपने गाँव की लड़की को, चाहे किसी भी जाति की हो, आयु के अनुसार भतीजी, बहिन या बुआ कह कर पुकारा जाता था। मुझे याद है कि घर के पास मुसलमान लखारों का एक घर था, हम उन सबको चाचा, ताऊ या चाची, ताई कह कर पुकारते थे।

अब गाँव क़स्बों में परिवर्तित हो गये हैं और यातायात के साधन सुलभ होने से आवागमन भी बढ़ गये हैं, इसलिए यह प्रथा कम होती जा रही है।

इस कथा की नायिका चन्दरी बुआ का जन्म राजस्थान की बीकानेर रियासत के एक गाँव में आज से क़रीब ११० वर्ष पहले एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था।

जब चन्दरी बुआ १२ वर्ष की हुई तो उसका विवाह हुआ। पास के गाँव से बारात आयी और सारे कार्य धूम-धाम से सम्पन्न हुए।

उसका पिता साधारण स्थिति का ब्राह्मण था, परन्तु उन दिनों विवाह-शादियों में घरवालों को कुछ विशेष नहीं करना पड़ता था। गाँव के पुरुष और स्त्रियाँ सारे कामों का आपस में बँटवारा कर लेते थे। प्रति घर से एक-दो रुपये टीके या दान के रूप में दिये जाते जिससे माँ-बाप के लिए खर्च का बोझ भी कम हो जाता था।

विवाह तो बचपन में हो जाते, पर गौना तीन या पाँच वर्ष बाद होता था। इससे पहले बहू ससुराल नहीं जाती थी। चन्दरी के पति का देहान्त गौना होने के पूर्व ही हो गया, फिर वह ससुराल नहीं गयी और मायके में ही रहने लगी।

पहले तो वह शायद बेटी या बहन के नाम से पुकारी जाती होगी, पर मैंने जब होश सँभाला, तब तक वह प्रौढ़ा हो चुकी थी और उसे बुआ का पद मिल चुका था। उसके माँ-बाप स्वर्गवासी हो चुके थे। वह सारे मुहल्ले

की बुआ कहलाने लगी थी।

दान-दक्षिणा लेने में उसे प्रारम्भ से ही ग्लानि थी। इसीलिए वह सबके साथ अच्छे सम्बन्धों के कारण श्रम करके ही अपना जीवन-निर्वाह करती थी। सुबह चार बजे उठ कर चक्की पीसने बैठ जाती और सूर्योदय तक ८-१० सेर तक अनाज पीस लेती। इससे प्रतिदिन दो-अढ़ाई आने तक कमाई हो जाती। उसे कभी काम का अभाव न रहता, क्योंकि एक तो वह काम में स्वच्छता रखती तथा अनाज को साफ़ करके पीसती तथा दूसरे, पिसाई में आटा घटाती न थी।

जब कभी हमारी नींद पहले खुल जाती तो चन्दरी बुआ के भजन तथा उनकी चक्की की आवाज़ सुनायी पड़ती। उन दिनों अलार्म घड़ियाँ तो सुलभ थीं नहीं, अतः जिसे कभी मुहूर्त साध कर जाना होता या पहले उठना होता, वह चन्दरी बुआ को समय पर जगाने को कह जाता और वह उसे नियत समय पर जगा देती। उस समय तारों को देख कर समय का ज्ञान बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को रहता था।

उनकी आवश्यकताएँ कम थीं। इसलिए दो-ढाई आने में सामान्य जीवन-निर्वाह हो जाता था। चन्दरी बुआ ने इससे अधिक कमाने की आवश्यकता नहीं समझी। दिन में वह मुहल्ले के बच्चों की देखभाल करती तथा कोई बीमार होता तो उसकी सेवा करती रहती। उन दिनों प्रसव का काम सयानी स्त्रियाँ या दाइयाँ ही सँभालती थीं। कठिन से कठिन समय में भी चन्दरी के आ जाने पर घरवालों को और ज़च्चा को सान्त्वना व साहस मिल जाता था।

उसने न तो कभी पति-प्रेम को जाना और न उसके बच्चे ही हुए परन्तु जीवन का सारा प्रेम और ममत्व दूसरों के बच्चों पर उँडेल दिया। मुहल्ले के बच्चे सारे दिन उसे घेरे रहते। किसी को पतंग के लिए लेई चाहिये तो किसी को अपनी गुड़िया के विवाह के लिए रंग-बिरंगे कपड़े। उसके दरवाज़े से निराश जाते कभी किसी को नहीं देखा।

संगीत की शिक्षा लिये बिना ही उसे ताल और स्वर का यथेष्ट ज्ञान था। विधवा होने के कारण विवाह-शादी के गीत तो नहीं गाती, परन्तु भजन और 'रतजगा' (रात्रि-जागरण) उसके बिना नहीं जमते थे। मीरा और सूर के पदों को इतनी लवलीन होकर मधुर रागिनी से गाती कि सुनने वाले भावविभोर हो जाते।

जब वह काफ़ी वृद्धा हो चली तब भी मैंने उसे देखा था। उस समय अनाज पीसना तो उसके वश की बात नहीं थी, फिर भी कुछ छोटा-मोटा काम करती रहती थी। वह इतनी बूढ़ी हो चुकी थी कि उसके हाथ और गर्दन काँपने लग गये थे और आवाज़ में भी हकलाहट-सी आ गयी थी।

प्रतिवर्ष गर्मी के मौसम में लोग हरिद्वार और बदरीनाथ जाते थे। चन्दरी बुआ से लोगों ने बहुत बार आग्रह किया, परन्तु उसका एक ही जवाब होता कि मुझ ग़रीब और अभागिन के भाग्य में तीर्थ-यात्रा कहाँ है, यह सब तो भाग्यशाली लोगों को मिलता है।

एक दिन उसने मुझे बुलाया और कहने लगी—"आजकल स्वास्थ्य ज़रा ठीक नहीं रहता, पता नहीं कब शरीर छूट जाये। मेरे मन में अपनी ससुराल के गाँव में एक कुआँ बनाने की साध है। वहाँ एक ही कुआँ है इसलिए गर्मी में गायें और ढोर तो प्यासे रहते ही हैं, मनुष्य को भी पूरा पानी नहीं मिलता। तुम पता लगा कर बताओ कि कुएँ पर कितना ख़र्च बैठेगा।" मैं सोचने लगा कि बुढ़ापे में बुआ का दिमाग ख़राब हो गया है। आजकल दोनों वक़्त का खाना तक ख़ुद नहीं जुटा पाती, इस पर भी कुआँ बनाने की धुन लगी है।

बात आयी-गयी हो गयी, परन्तु १०-१२ दिन बाद देखता हूँ कि लाठी टेकती बुआ सुबह-सुबह हाज़िर है। मन में अपने ऊपर ग्लानि और क्षोभ हुआ कि जिसके स्नेह की छाया में बचपन के इतने वर्ष बिताये, जिससे नाना-प्रकार के छोटे-मोटे काम लिये, बहुत रात गये तक कहानियाँ सुनीं, उसके एक छोटे-से काम पर भी मैंने ध्यान नहीं दिया! मैंने कहा, "वहाँ पानी बहुत नीचा है, इसलिए कुएँ पर दो-ढाई हज़ार रुपये ख़र्च होंगे। यदि कुँई (छोटा कुआँ) बनायी जाये तो शायद डेढ़ हज़ार तक में बन सकेगी।"

मेरा उत्तर सुन कर बुआ के झुर्रियों से भरे चेहरे पर एक गहरी उदासी छा गयी, वह मन-ही-मन कुछ हिसाब-सा लगाने लगी। दूसरे दिन मुझे अपने घर आने को कह कर चली गयी।

अगले दिन जब मैं उसके यहाँ पहुँचा तो देखा कि वह मेरा इन्तज़ार कर रही है। थोड़ी देर इधर-उधर देख कर मुझे भीतर की एक कोठरी में ले गयी। खाट के नीचे से एक पुराना डिब्बा निकाला और उसे खोल कर मेरे सामने उँडेल दिया।

रानी विक्टोरिया, एडवर्ड और जॉर्ज पञ्चम की छाप के पुराने रुपये थे तथा कुछ रेज़गारी थी। थोड़े-से चाँदी के गहने और एक सोने की मूर्ति थी, जो शायद उसकी माँ ने उसके विवाह के समय उसको दी होगी।

मैं रुपये गिन रहा था और पिछले ६०-७० वर्षों का इतिहास मेरे मानस में तैर रहा था। सोच रहा था, इस वृद्धा की सारी उम्र की गाढ़ी कमाई का यह पैसा है जो उसने कठिन जीवन बिता कर, यहाँ तक कि तीर्थयात्रा की बलवती इच्छा को दबा कर इकट्ठा किया है। आज जीवन के सन्ध्याकाल में सारा-का-सारा परोपकार में लगा देना चाहती है। गिन कर मैंने बताया कि लगभग ९०० रुपये हैं। ३०० रुपये के गहने होंगे। इतने में काम बन जायेगा; जो कुछ थोड़ी कमी रहेगी उसकी व्यवस्था हो जायेगी; कोई चिन्ता की बात नहीं है।

वह बोली—"बेटा, मेरे पति के निमित्त कुआँ बनेगा। इसमें दूसरों का पैसा नहीं ले सकूँगी। नहीं होगा तो एक मज़दूर कम रख कर कुछ काम मैं कर दिया करूँगी।" मैंने पूछा—"बुआ, कुएँ पर किसके नाम का पत्थर लगेगा?" अपनी धुँधली आँखों को कुछ फैलाने की चेष्टा करते हुए बुआ ने जवाब दिया—"नाम की इच्छा से पुण्य घट जाता है, फिर मानुष तो स्वयं क्षणभंगुर है, उसके नाम का मूल्य ही क्या?"

मुझे इस अनपढ़ वृद्धा के तर्क पर आश्चर्य के साथ श्रद्धा हो रही थी। यह कुआँ बनाने के परोपकारी काम के लिए सर्वस्व लगा कर भी न तो अपना और न अपने पति के नाम का पत्थर लगाने की इच्छा रखती है, जब कि आज १ लाख लगा कर ५ लाख की इमारत पर या संस्था पर नाम लगाने की खींच-तान धनवान और विद्वानों में लगी रहती है तथा उद्घाटन-समारोह किस मन्त्री या नेता से करायें, इस पर भी काफ़ी सोच-विचार होता है। तय नहीं कर पा रहा था कि कौन बड़ा दानी है और किसका दान ज़्यादा सात्त्विक है।

कुछ दिनों बाद उस गाँव में गया तो कुआँ बन रहा था और चन्दरी बुआ भी मज़दूरों के साथ टोकरी ढो रही थी। उसकी लगन और परिश्रम देख कर दूसरे मज़दूर-कारीगर भी जी-जान से काम में जुटे थे।

किसी ने कहा—"बुआ, तुम्हारे कुएँ का पानी तो बहुत मीठा निकला है, परन्तु तुम तो बहुत दिन नहीं पी सकोगी।" वह बोली—"मेरा इसमें

क्या है? तुम सब लोगों में रह कर कमाया हुआ पैसा था, वह भले काम में लग गया। दूसरों के कुओं से सारी उम्र पानी पिया है, इसलिए इस छोटे-से प्रयत्न के द्वारा मैंने अपना ऋण चुकाने का प्रयास किया है। मेरी आख़िरी इच्छा है कि जब मेरे प्राण निकलें तो गंगाजल की जगह इसी कुएँ का पानी मेरे मुँह में डालना।"

कुआँ बन कर तैयार हो गया, परन्तु बुआ थक कर बीमार हो गयी। जिस दिन हनुमान जी का जागरण और प्रसाद हुआ, वह बेहोश-सी थी।

जागरण में आस-पास से देहात के काफ़ी लोग इकट्ठे थे। भजन-कीर्तन चल रहा था; थोड़ी देर बाद वहीं सबके सामने बुआ का देहान्त हो गया।

आज वह गाँव बड़ा हो गया है और दूसरे कुएँ भी बन गये हैं, परन्तु 'चन्दरी-कुएँ' के पानी के समान मीठा पानी किसी का भी नहीं है।

'भूले न भुलाये' पुस्तक से साभार —रामेश्वरजी टाँटिया

मंगल प्रभात

सूरज ढलने जा रहा था।
उसने मुस्कुराते हुए क्षितिज के पास
एक लिखित उलाहना सौंपते हुए कहा—
"दिन भर आपको धूप दी।
आपके पुत्र-पौत्रों-सन्ततियों को प्रकाश एवं ऊर्जा प्रदान की,
और आप हैं कि मुझे थोड़ी देर में ही बिदा कर रहे हैं।
थोड़ी देर और ठहर जाने देते। इसमें आपका क्या बिगड़ जाता!"
गम्भीर क्षितिज स्याही लेकर उत्तर लिखने बैठा तो
एक पंक्ति ही लिख पाया,
जिसे प्रातः के प्रकाश में सूर्य ने पढ़ा।
लिखा था—
"इसलिए कि तुम हर प्रातः एक नयी चमक, रोशनी, आभा व उल्लास के साथ आओ और पहले से भी अधिक प्रकाश फैलाओ।" सूर्य का मस्तक श्रद्धा से झुक गया।

—'अखण्ड ज्योति' से साभार

आमीन!!!

पाठकगणो! आजकल ज़माना है, 'इंटरनेट' का। नयी-से-नयी तकनीक के आविष्कार का। आज लगता है जैसे सारी दुनिया उँगलियों में सिमट कर रह गयी है! (भविष्य में क्या होगा शायद भगवान् भी इस सोच में डूबे हों!) जिधर देखो, जिसको देखो, घर के अन्दर, घर के बाहर, चौरस्तों पर, गलियों में—सब जगह बस एक ही नज़ारा दीखता है—फ़ोन के बटनों पर बिजली की गति को भी मात देती हुई चलती दोनों हाथों की उँगलियाँ, झुकी नज़रें, उससे भी ज़्यादा झुकी हुई गर्दन, चेहरे पर ख़ुशी, ग़म, खिलखिलाहट के पल-पल बनते-बिगड़ते हाव-भाव... एक शब्द में कहा जाये तो "बेख़बर"—स्त्री-पुरुष, बच्चे-जवान-बूढ़े—हर एक पर यह बिल्ला चिपकाया जा सकता है आज। ख़ैर! सारा संसार 'इंटरनेट' के शिकंजे में ऐसा कसा हुआ है कि सयाने बुज़ुर्गों के मुँह से बस एक ही शब्द निकलता है, "तौबा", "तौबा"...!!

लेकिन यह तौबा बड़ा वरदान भी है। इसके ज़रिये हर पल लाखों-करोड़ों सन्देश यहाँ से वहाँ पहुँच जाते हैं, अपनों से ऐसे गुफ़्तगू कर सकते हैं हम, उन्हें ऐसे देख सकते हैं मानों वे हमारे सामने की कुर्सी पर बैठे हों! और सबसे सुन्दर होती हैं इधर से उधर घूमती हुई ऐसी कहानियाँ, ऐसे सन्देश जिन्हें पढ़ कर हर एक का दिल मुस्कुरा उठता है।

इतनी भूमिका इसीलिए बँधी कि ऐसी ही एक घूमती-फिरती छोटी-सी सन्देशरूपी कहानी का भावानुवाद प्रस्तुत कर रही हैं सम्पादिका!

"सन् १९२२ में एलबर्ट आइंस्टाइन जापान के दौरे पर थे। एक दिन एक होटल के कमरे में सामान पहुँचाने वाले नौकर को देने के लिए उनके पास उस वक़्त जापानी मुद्रा बिलकुल नहीं थी। 'बाद में आकर कुछ बख़्शिश ले जाना' कहना उन्हें बिलकुल नागवार गुज़रा। कुछ सोच कर एक सफ़ेद काग़ज़ पर उन्होंने सुखी रहने का एक नुस्ख़ा लिख कर उस युवक को थमा दिया। यह पुर्ज़ा हाल में १५ लाख डॉलर में बिका! कौन-सा रहस्यभरा सन्देश था उसमें भला?—

"रात-दिन सफलता का पीछा करते हुए, हमेशा बेचैनी के हाथों में हाथ डाले, जीवन की दौड़ को बौखलाये हुए पार करने से कहीं ज़्यादा

अच्छा है, हमेशा शान्तिभरा और शालीन जीवन बिताना। तब सुख अनायास तुम्हारे पल्ले बँध जायेगा।"

इतने नामी-गिरामी वैज्ञानिक से पैसों के बदले एक काग़ज़ का टुकड़ा मिलने पर ज़रूर उस युवक का मुँह लटक गया होगा, लेकिन क्या वह जानता था कि आइंस्टाइन ने उसके हाथों में दुनिया की पूँजी धर दी थी!...

ज़रा सोचें—दुनिया के सबसे होनहार व्यक्ति की सोच के बारे में—कि जगत् में सुख को हासिल करने की चाबी है—सन्तुलित, सुशान्त मस्तिष्क का होना और शान्तिमय जीवन जीना।

और ज़रा यह भी सोचें कि आज दुनिया में सुख को पाने की क्या परिभाषा है?—एक शब्द में कहें तो "बदहवासी" यानी "बौखलाहट"... अपने ही हाथों अपने-आपको एक मशीन बना डाला है मानव ने। आज विद्यार्थी परीक्षा के हौए से सताया-बौखलाया रहता है, युवावर्ग बहुधा आड़े-तिरछे तरीक़ों से ज़्यादा-से-ज़्यादा पैसा कमाने की धुन में बौराया रहता है। वृद्ध घर और समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने की चिन्ता में रात-दिन घुलता रहता है। कहाँ सिधार गयीं शान्ति और सरलता इस दुनिया से? आज के बच्चे भी तनाव के इस छुतहा रोग की जकड़ में पूरी तरह से आ गये हैं। कभी-कभी तो लगता है कि बच्चे अब बच्चे नहीं रहे, चुरा लिया है उनका बचपना आधुनिकता के दस्यु ने... कहाँ छूमन्तर हो गया वह नदी में नहाना, पेड़ों पर चढ़ना, रस्सी और पटरों का झूला डालना, छुप्पन-छुप्पा और सात का धप्पा खेलना, फिरकियाँ घुमाना, स्लेट सुखाते वक़्त 'सूख-सूख पट्टी, चन्दन घट्टी...' का सुरीला, बेसुरा गीत गाना, गुड्डों की बारात सजाना, गुड़ियों को बिदा कराना—धूप और छाँह के कितने-कितने खेल हुआ करते थे उन दिनों, और कितने बिना पैसों के, बस ईंट-पत्थर, लकड़ी इत्यादि के जोड़-तोड़ से ईजाद कर लिये जाते थे—तब न हर्रा लगता था न फिटकरी, फिर भी रंग चोखा हो जाता था—और वह कहा जाता है, *पिछड़ा हुआ ज़माना!!* और वह कहा जाता है पिछड़ा हुआ ज़माना जब लोग मिल-बाँट कर खा लेते थे, किसी के घर का छप्पर आग पकड़ लेता तो सारा गाँव उसकी मदद के लिए दौड़ पड़ता था, जब पराये भी सगे हो जाते थे, जब आदमी के सिर पर पैसा चढ़ कर नहीं बोलता था, जब वृद्धाश्रम जैसा शब्द अस्तित्व ही नहीं रखता था, जब सम्मिलित

परिवार के बिना रहने की बात सपने में भी नहीं सोची जा सकती थी और जब बच्चे दादा-दादी, नानी-नानी, चाची-ताई वगैरह की गोदों में पल-बढ़ कर कब जवान बन जाते, पता ही नहीं चलता था... और आज का ज़माना है *आधुनिक ज़माना!* जहाँ हर एक डेढ़ चावल की अपनी खिचड़ी अलग पकाता है, जहाँ कभी-कभी लोग अपने पड़ोसियों के बस नाम भर से परिचित होते हैं, क्योंकि उससे ज़्यादा परिचय उनके जीवन में घुसपैठ क़रार कर दी जाती है, जहाँ कुकुरमुत्तों की तरह वृद्धाश्रम उगते चले आ रहे हैं, और सम्मिलित परिवार!!—वह भला कौन-सी चिड़िया का नाम है आज के आधुनिक ज़माने में??

कैसा पाँसा पलट गया है दुनिया का! समय के साथ क़दम से क़दम मिला कर चलना सही है, लेकिन, ज़रा सोचिये कि 'आधुनिक ज़माने' में हमारा सारा सुख-चैन ये मशीनें क्यों निगलती जा रही हैं...???

भागा-दौड़ी के इस ज़माने में, जहाँ हर एक अपना सुख जुटाने की होड़ में सरपट न जाने कहाँ भागा जा रहा है, क्यों न हम पल भर ठहर कर आइंस्टाइन की कुछ पंक्तियाँ गुनगुना लें, ...जीवन की दौड़ को बौखलाये हुए पार करने से कहीं ज़्यादा अच्छा है, हमेशा शान्तिभरा और शालीन जीवन बिताना। तब सचमुच, सुख अनायास हमारे पल्ले बँध जायेगा...।

आमीन!!! —वन्दना

ज़रा सोचें...

एक ज़माने की बात है! जब Window केवल कमरे की खिड़की हुआ करती थी और Application होता था प्रार्थना-पत्र। जब Keyboard पिआनो हुआ करता था और Mouse एक अदना-सा जानवर। जब File दफ़्तर की महत्त्वपूर्ण सामग्री होती थी और Hard Drive ऊबड़-खाबड़ सफ़र। जब Cut चाकू से किया जाता था और Paste गोंद से। जब Web मकड़ी का जाला होता था और Virus होता था फ़्लू। जब Apple और Blackberry मात्र फल होते थे... तब हमारे सबके पास समय ही समय था अपनों के लिए और सबके 'अपने', उन 'परम प्रभु' के लिए...!!!

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st July 2018
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 3. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces – perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363